

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 15 अंक 1

जुलाई-सितंबर 2017

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

लोकेश चन्द्र

यशदेव शल्य

जे.एन.राय

रमेशचन्द्र शाह

सम्पादक

बी. बी. कुमार

रामचंद्र प्रधान

आस्था भारती

दिल्ली

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपए
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपए
विदेशों में	\$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20.00 रुपए
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपए
विदेशों में	\$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	20,000.00 रुपए
अन्दर कवर	15,000.00 रुपए
अन्दर पूरा पृष्ठ	10,000.00 रुपए
अन्दर का आधा पृष्ठ	7,000.00 रुपए

प्रकाशन के लिए केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा द्वारा आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

आस्था भारती

रजिस्टर्ड कार्यालय :

27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेंट

मयूर विहार फेस-1 विस्तार

दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :

23/203 ईस्ट एंड अपार्टमेंट

मयूर विहार फेस-1 विस्तार

दिल्ली-110 096

से आस्था भारती के लिए डॉ. लता सिंह, आई.ए.एस. (सेवा-निवृत्त), सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, 1/10753, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित। फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati1@gmail.com

वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

विषय-क्रम

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य	5
1. भारतीय पुनर्जागरण एवं आनन्द कुमारस्वामी राकेश मिश्र	7
2. भारत-बोध और आनन्द कुमारस्वामी वृजेन्द्र पाण्डेय	21
3. भारतीय कला और आनन्द कुमारस्वामी नीरज कुमार सिंह	42
4. नये भारत के निर्माण का भरोसा अच्युतानन्द मिश्र	55
5. अज, खर एवं अश्व - ऋग्वैदिक सन्दर्भ राजीव रंजन उपाध्याय	59
6. धर्माचार्य ही हैं भारत के अभिजन प्रो. रामेश्वर मिश्र 'पंकज'	71
7. चीनी सिल्क रोड नहीं, भारतीय उत्तरापथ साम्राज्यवादी ओबोर बनाम सहकारवादी ओसोर रवि शंकर	76
8. ललित निबन्ध विज्ञान, अध्यात्म और साहित्य डॉ. श्रीराम परिहार (डी.लिट.)	84

9. मनुष्य के स्वरूप का गांधी एवं श्री अरविन्द के दर्शन में विश्लेषण संजय कुमार शुक्ला	94
10. प्रकृति एवं कविवर रवीन्द्रनाथ के काव्य प्रो. दिनेश कुमार चौबे	107
11. पुस्तक समीक्षा साम्ययोग के आयाम : विनोबा दृष्टि का पुनर्पाठ डॉ. रामचन्द्र प्रधान	112
12. पुस्तक समीक्षा आलोचना की नयी उड़ान पल्लवी प्रकाश	116
13. पुस्तक समीक्षा ‘मुझे कुछ कहना है’ : छत्तीसगढ़ की आत्मकथा डॉ. मंजु शर्मा	121
पाठकीय प्रतिक्रिया	123

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

अन्तहीन बौद्धिक विवाद

विवाद एवं संवादहीनता हमारे समाज में ऊँचा स्थान पाए लोगों की जीवन शैली, उनकी सोच का अंग बन गयी है। हमारे देश का मान्यता-प्राप्त बौद्धिक यह मानकर चलता है कि उसे किसी भी विषय पर अपना विचार प्रकट करने का अधिकार है। दुर्भाग्यवश हमारे बहुत से बौद्धिक ऐसा बार बार करते रहते हैं। उनको बार बार अपने ज्ञान की सीमा का उल्लंघन करते हुए झिझक नहीं होती, गलती बतलाए जाने पर भी उनमें से अधिकांश पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वे अपनी बात पर अड़े रहते हैं। संवाद तंत्र विवाद को हवा-पानी देता रहता है। उसकी रूचि विवाद की बढ़ाने एवं बनाए रखने में ही होती है।

स्थिति इतनी दुखद है कि आज न केवल भारतीय राजनीति अपने विवादित संवादों के लिए बदनाम है, बल्कि ऐसा शिक्षा एवं ज्ञान के क्षेत्र में भी कुछ अधिक ही हो रहा है। आज किसी अर्थशास्त्र के विद्वान को आप न केवल इतिहास या दर्शन की बात करते, या इतिहास के स्थापित विद्वान को धर्म दर्शन के संवाद में गलत हस्तक्षेप करते पाएँगे, बल्कि अपने विद्वानों को दो टोली में बाँटकर विवाद को गलत दिशा देते हुए भी पाएँगे।

फिर एक वर्ग कलाकारों का भी है। उसे अपने काम में हस्तक्षेप बिल्कुल बर्दास्त नहीं। फिर उनके पक्ष में “अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता” का झंडा लिए एक सेना सदा खड़ी रहती है, जिसमें पत्रकार होते हैं, शिक्षातंत्र के सिपाही होते हैं, अन्य भी होते हैं। ये कलाकार अपने काम एवं अपने कार्य-क्षेत्र को पवित्र मानते हैं। वे किसी की माँ को नंगा कर सकते हैं; उसे सेक्सी बना या बता सकते हैं; उसका चरित्र-हनन कर सकते हैं; उनको लोगों की संवेदना की समझ नहीं होती। उन्हें यह ज्ञान नहीं कि माँ तो माँ ही होती है चाहे वह करोड़ों हिन्दुओं द्वारा पूजित पवित्र देवी दुर्गा हो अथवा ऐतिहासिक पात्र पद्मावती। आज यदि कोई किसी को गाली देता है; किसी को नंगा करता है; उसका चरित्र-हनन करता है, तो उसका कार्य अपराध माना जाता है, उस

व्यक्ति को गुण्डा माना जाता है। फिर कोई कारण नहीं कि किसी कलाकर, किसी फिल्मकार को वैसा करने पर ऐसा नहीं माना जाए। ऐसे में जब लोक भावनाओं के साथ कलाकारों/फिल्मकारों की संवेदहीनता एवं छेड़छाड़ बढ़ रही है, फिल्म सेंसर बोर्ड को सेंसर संबंधी अपनी सोच एवं कार्य-पद्धति में बदलाव लाना चाहिए। फिर जिस फिल्मी कलाकार को समाज की समझ नहीं, उसे सामाजिक फिल्म एवं जिसे इतिहास का ज्ञान नहीं उसे ऐतिहासिक फिल्म नहीं बनानी चाहिए।

— ब्रज बिहारी कुमार

भारतीय पुनर्जागरण एवं आनन्द कुमारस्वामी

राकेश मिश्र

इशरती घर की मुहब्बत का मजा भूल गए,
खा के लन्दन की हवा अहदे-वफा भूल गए।
पहुँचे होटल में तो फिर ईद की परवाह न रही,
कैंक को चखके सेवइयों का मजा भूल गए।
भूले माँ-बाप को अगयार के चर्चों में वहाँ,
साया-ए-कुफ़ पड़ा नूरे-खुदा भूल गए।
मोम की पुतलियों पर ऐसी तबियत पिघली,
चमने-हिन्द की परियों की अदा भूल गए।
नक्ले-मगरिब की तरंग आई तुम्हारे दिल में,
और ये नुक्ता कि मेरी अस्त है क्या भूल गए।
क्या ताज्जुब जो लड़कों ने भुलाया घर को,
जबकि बूढ़े भी रविश-ए-दीन-ए-खुदा भूल गए।

—अकबर इलाहाबादी

लोकयात्रा चाहे व्यक्ति की हो अथवा संस्थाओं और सभ्यताओं की, उदयावपात उसकी नियति है। सत्त्व का संवर्धन एवं संरक्षण उन्नति का हेतु है और सत्त्व-हास अवनति का। भारतीय सभ्यता भी इसका अपवाद नहीं है। काल के प्रभाव से भारत भी सत्त्वहीन एवं श्रीहीन हुआ। बारहवीं सदी में इस्लाम और उन्नीसवीं सदी में इंग्लैण्ड के राजनीतिक वर्चस्व की स्थापना ने भारतीय संस्कृति के मूल स्वरूप के लिए नई चुनौतियाँ उत्पन्न कीं। यदि सोलहवीं सदी का भक्ति-आंदोलन मुस्लिम शासन के संदर्भ में भारत की आत्म-समीक्षा था तो उन्नीसवीं सदी का पुनर्जागरण ब्रिटिश साम्राज्य के संदर्भ में आत्मालोचन था। निःसन्देह उन्नीसवीं सदी के भारतीय पुनर्जागरण

राकेश मिश्र : प्रोफेसर, राजनीतिशास्त्र, लखनऊ विश्वविद्यालय, अध्यक्ष, कुमारस्वामी फाउण्डेशन, संपादक, 'तत्त्व-सिन्धु' ई-मेल : rkm.lu007@gmail.com, मो. 08953809188

का स्वरूप भक्ति-आंदोलन की तुलना में काफी जटिल है, क्योंकि उन्नीसवीं सदी में भारत को न केवल एक विदेशी वरन् एक इहलोकवादी जीवन-दृष्टि से जूझना पड़ा। महर्षि अरविन्द ने भारतीय पुनर्जागरण को आधुनिकता का एशियाई संस्करण कहा है और अनेक दृष्टियों से यह सत्य भी है। परन्तु श्री अरविन्द एवं कतिपय अन्य विद्वानों का यह निष्कर्ष भी महत्वपूर्ण है कि पुनर्जागरण काल में आधुनिक पाश्चात्य जीवन-दृष्टि का ही महिमामण्डन नहीं हुआ, वरन् भारतीय संस्कृति के मूल स्वरों की कभी मंद एवं कभी तीव्र प्रतिध्वनि भी सुनाई पड़ती है। भारतीय पुनर्जागरण का स्वरूप सोलहवीं सदी के यूरोपीय पुनर्जागरण की भाँति ही जटिल है। दोनों में इहलोकवाद के प्रति प्रबल आग्रह विद्यमान है। लेकिन हमें यूरोपीय पुनर्जागरण एवं भारतीय पुनर्जागरण के एक मौलिक अन्तर को ध्यान में रखना चाहिए। सोलहवीं सदी के यूरोप के राष्ट्र-राज्य स्वतंत्र थे और वे स्वेच्छा से इहलोकवादी-व्यक्तिवादी जीवन-दृष्टि का वरण कर रहे थे। ईसाई जीवन-दृष्टि से विलग होने की उनकी इच्छा आत्म-प्रसूत थी। उन्नीसवीं सदी का भारत एक पराधीन राष्ट्र था, जिस पर आधुनिक यूरोपीय सभ्यता के जीवनादर्श आरोपित किए जा रहे थे। यह आरोपण उसे प्रायः कसमसाहट और पीड़ा से भर देता है तथा अनेक अन्तर्द्वन्द्वों एवं विरोधाभासों को जन्म देता है। पुनर्जागरण-काल एक क्लान्त-श्रान्त प्राचीन देश में आधुनिकता के बीजारोपण का काल है और यह भारतीय अस्मिता के सिंहनाद का काल भी है। यह आत्म-विस्मरण का काल भी है और पुनर्स्मरण का भी। यह दिग्भ्रान्ति का काल भी है और दिशा-बोध का भी। यह संविभ्रम (Paranoia) का काल भी है और सम्यक् दृष्टि (Metanoia) का भी। एक प्राचीन राष्ट्र अपने नए संरक्षक के प्रति कभी विश्वास, कभी अविश्वास का भाव लिए गतिमान है, परन्तु गंतव्य को लेकर दुविधाग्रस्त है।

भारत का राजनीतिक पराभव उसके आत्मिक एवं सांस्कृतिक क्षरण का प्रतिबिम्ब था। इस सांस्कृतिक क्षरण एवं विचलन के एक अप्रतिम व्याख्याता डॉ. आनन्द कुमारस्वामी (1877-1947) हैं; जो अपने शत-सहस्र लेखों एवं ग्रन्थों में सनातन सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में इस अधोपतन की मर्मस्पर्शी व्याख्या करते हैं। कुमारस्वामी को मुख्यतः एक कलाविद् के रूप में ख्याति प्राप्त हुई, पर यह उनके विराट व्यक्तित्व का एक पक्ष ही है। परम्परागत सभ्यताओं के तत्त्वशास्त्रीय, सौन्दर्यशास्त्रीय एवं नीतिशास्त्रीय पक्षों का उनका ज्ञान विलक्षण एवं विस्मयकारी था। वे अद्भुत मेधा एवं अन्तर्दृष्टि से सम्पन्न थे और उनकी परम्परागत आदर्शों एवं सिद्धान्तों के प्रति अडिग आस्था थी। प्रसिद्ध दार्शनिक एरिक गिल ने उनके विशद एवं गहन ज्ञान को इस प्रकार शब्दबद्ध किया है—

मैं एक व्यक्ति से बहुत उपकृत हूँ और वह हैं दार्शनिक एवं धर्मशास्त्री आनन्द कुमारस्वामी। अन्य विद्वानों ने भी जीवन, धर्म और मानवीय क्रियाओं पर लिखा है। अन्यो को भी वाग्विदग्ध विवेचन की सामर्थ्य प्राप्त रही है। अन्य दार्शनिकों को भी हिन्दू, बौद्ध एवं ईसाई तत्त्वदर्शन का ज्ञान है। अन्य विद्वानों ने भी चित्रों एवं मूर्तियों

के सम्यक् आशय को समझा है। अन्यो ने भी सत्, चित् और आनन्द के सम्बन्ध को समझा है। निस्सीम ज्ञान से सम्पन्न अन्य दार्शनिक भी हुए हैं। अन्यो में भी प्रेम, उदारता एवं सहिष्णुता विद्यमान रही है। परन्तु, मैं ऐसे किसी दार्शनिक को नहीं जानता, जिसमें सभी योग्यताएँ एवं शक्तियाँ एक साथ विद्यमान हों। मेरा विश्वास है कि किसी अन्य लेखक ने कला एवं जीवन, धर्म और नीति पर इतने विवेक और अन्तर्दृष्टि से नहीं लिखा है।

कुमारस्वामी के सम्पूर्ण चिन्तन का केन्द्र-बिन्दु उनका यह विचार है कि ‘आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति में जीवन जीने योग्य नहीं है।’ (‘Life under modern Western culture is not worth-living.’) भारत में इस आधुनिक सभ्यता का आगमन ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के साथ हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि भारत को पराधीन बनाने में युद्ध, कूटनीति, षड्यंत्रों एवं कुचक्रों की महत्वपूर्ण भूमिका रही, परन्तु भारत को सत्त्वहीन करने में ब्रिटिश शिक्षा-प्रणाली की विशेष भूमिका रही। भारत के सांस्कृतिक-वैचारिक आधिपत्य में ब्रिटिश साम्राज्य की दीर्घजीविता के बीज विद्यमान हैं।

ब्रिटिश सरकार ने शिक्षा-प्रणाली के माध्यम से भारत के अभिजात्य वर्ग का बड़ी चतुराई से पश्चिमीकरण किया। उसे उदारवादी मान्यताओं में इस प्रकार ढाल दिया गया कि वह अपने को और अपने देश को इन्हीं मानदण्डों और संदर्भों में परखने लगा। यह सब बहुत विचार-पूर्वक किया गया। ब्रिटिश शिक्षा-नीति के निर्माता लॉर्ड मैकाले ने 1835 में ब्रिटिश साम्राज्य के उद्देश्यों का बड़ी स्पष्टता से प्रतिपादन करते हुए कहा—“हमें अपने और लाखों भारतीयों के बीच दुभाषिए के रूप में एक ऐसे वर्ग को तैयार करने का भरसक प्रयास करना चाहिए, जो रंग-रूप में भारतीय होगा, लेकिन रुचि, विचार, वाणी और बुद्धि में अंग्रेज होगा।” मैकाले एक उग्र साम्राज्यवादी था, जिसके मन में भारत की प्राचीन सभ्यता के प्रति तीव्र वितृष्णा थी। उसने दंभपूर्वक घोषित किया था कि सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय की हैसियत इंग्लैण्ड के प्राथमिक विद्यालयों में पढ़ाई जानेवाली पुस्तकों से भी कम है। ब्रिटिश शिक्षा-पद्धति का लक्ष्य एक ऐसे शिक्षित वर्ग का निर्माण करना था, जो स्वभावतः अंग्रेजी में सोचे और बोले, जिसे ब्रिटिश साम्राज्य का निवासी होने पर गर्व हो और जिसकी बौद्धिक एवं नैतिक क्षमताएँ पूर्णतः पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के नियंत्रण में हों। मैकाले के निकट सम्बन्धी और इतिहासकार चार्ल्स ट्रेविलियान ने 1853 में ब्रिटिश संसद की एक समिति के समक्ष प्रस्तुत एक प्रतिवेदन—‘दि पॉलिटिकल टेन्डेंसी ऑफ डिफरेंट सिस्टम्स ऑफ एजुकेशन इन यूज इन इंडिया’—में शिक्षा-नीति के पीछे निहित उद्देश्यों का उल्लेख करते हुए लिखा—

हमारी शिक्षा संस्थाओं में पढ़नेवाला भारत का युवा-वर्ग अपने पूर्वजों के बर्बर शासन-सिद्धान्तों के प्रति घृणा से भरकर आंग्ल प्रतिमान के अनुसार अपनी राष्ट्रीय संस्थाओं को सुधारना चाहता है। मेरी आशा है कि भारतीयों का हमारे प्रति वही भाव

होगा, जो कभी रोमन साम्राज्य के प्रति हमारा था। टेसिटस ने लिखा है कि जूलियस एग्रीकोला की यह नीति थी कि वह सभ्रान्त अंग्रेजों के बच्चों को रोमन साहित्य एवं विज्ञान में शिक्षित करता था, उनमें रोमन सभ्यता से जुड़ी वस्तुओं के प्रति अभिरुचि उत्पन्न करता था। हम जानते हैं कि यह नीति कितनी सफल रही। अंग्रेज, जो रोमनों के कट्टर शत्रु थे, उनके विश्वस्त मित्र बन गए और अपने पूर्वजों जिन्होंने रोमन साम्राज्य का प्रतिरोध किया था, को पीछे छोड़कर वे रोमन साम्राज्य को सुदृढ़ बनाने में जी-जान से जुट गए। हमारे लिए यह लज्जाजनक होगा यदि हम भारतीयों में यह धारणा उत्पन्न न कर पाए कि अंग्रेजों की भारत से वापसी भारत के लिए एक विपदा होगी।

यहाँ 1846 में 'एडिनबर्ग दार्शनिक परिषद' में दिए लॉर्ड मैकाले के उस भाषण का उल्लेख करना भी प्रासंगिक होगा, जिसमें उन्होंने कहा था कि इंग्लैंड ने अपनी व्यापारिक एवं सैन्य नीति से कहीं अधिक अपनी शिक्षा-नीति से भारत को प्रभावित किया है।

आनन्द कुमारस्वामी ने इस शिक्षा-प्रणाली को भारत की सबसे कठिन और अनर्थकारी समस्या माना। "आंग्ल शिक्षा की एक पीढ़ी ने परम्परा का ताना-बाना छिन्न-भिन्न कर दिया और मूल से कटे, बौद्धिक रूप से लावारिस एक ऐसे भारतीय को उत्पन्न कर दिया, जो न पूर्व का है और न पश्चिम का, जिसका न कोई इतिहास है और न कोई भविष्य।"¹ इस आंग्ल शिक्षा-व्यवस्था ने भारतीय जीवन की निरन्तरता को भंग कर दिया, इसने भारतीयों को अराष्ट्रीय बना दिया। आंग्ल शिक्षा-प्रणाली ब्रिटिश साम्राज्य के राजनीतिक एवं आर्थिक हितों का संवर्धन और संरक्षण करने के लिए अस्तित्व में आई; सनातन, नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों का जो भारतीय संस्कृति एवं शिक्षा के मूलाधार हैं, उसमें कोई स्थान नहीं है। भारतवासियों को शिक्षित करने का दायित्व ग्रहण करनेवाली ब्रिटिश सरकार और ईसाई धर्म-प्रचारक दोनों ही संकीर्ण और विकृत उद्देश्यों से प्रेरित थे। कुमारस्वामी ने दोनों की रीति-नीति पर कठोर प्रहार किए हैं। उन्होंने अपने लेख, 'क्रिश्चियन मिशनर्स इन इंडिया' में इस बात का विस्तृत विवेचन किया है कि किस प्रकार ईसाई मिशनरियों का एक बड़ा वर्ग ब्रिटिश साम्राज्यवादी हितों की पूर्ति में सहायक बना।² उनके अनुसार ये ईसाई धर्म-प्रचारक अपने धर्म-दर्शन के एकमात्र सम्पूर्ण सत्य होने के प्रति इतने आश्वस्त और आग्रहशील रहते हैं कि वे भारतीयों का धर्मान्तरण या मतान्तरण करने में शक्ति, प्रभाव एवं प्रलोभन आदि किसी भी साधन का प्रयोग करने में नहीं हिचकते। वे लोग यह मानते हैं कि सत्य का प्रकाश एक विशिष्ट रंग या प्रकार के शीशे से छनकर पहुँच सकता है, और हिन्दू धर्म रूपी शीशे के माध्यम से प्राप्त सत्य उस प्रकार से परिपूर्ण एवं प्रकाशित नहीं है, जिस प्रकार ईसाई धर्म रूपी शीशे से प्राप्त सत्य। विडम्बना यह है कि इन धर्म-प्रचारकों को न हिन्दू धर्म-दर्शन का समुचित ज्ञान है और न ही उसकी जिज्ञासा है। वे हमारे धर्मग्रन्थों की सतही एवं दुर्भावनापूर्ण व्याख्या कर और हमारी परम्पराओं और मान्यताओं का उपहास उड़ाकर एक ऐसा आध्यात्मिक रेगिस्तान

तैयार करने में लगे हैं, जिसमें ईसाई मत को सुगमता से आरोपित किया जा सके। मिशनरी स्कूलों के विदेशी और भारतीय शिक्षक ईसाई मान्यताओं एवं अंग्रेजी भाषा में प्रशिक्षित हो अध्यापन का दायित्व संभालते हैं और इसकी सहज कल्पना की जा सकती है कि उनके शिक्षण का विद्यार्थियों के मन-मस्तिष्क पर कैसा प्रभाव पड़ेगा। स्वभावतः उनकी शिक्षा का हमारी संस्कृति और जीवन-दृष्टि से कोई सम्बन्ध नहीं होगा। कुमारस्वामी ने कहा कि यदि सरकारी स्कूल-कॉलेज भारतीय जीवन-दृष्टि एवं आदर्शों की उपेक्षा करते हैं तो मिशनरी स्कूल उन्हें नष्ट करने में लगे हैं। इन ईसाई धर्म-प्रचारकों का भारतीयों को 'सभ्य' और ईसाई बनाने का अति-उत्साह और माता-पिता की अपनी सन्तानों को 'आधुनिक' बनाने की चिन्ता—इन दोनों के समन्वित प्रभाव से एक ओर जहाँ भारतीय संस्कृति का मूलोच्छेदन हो रहा है, वहीं दूसरी ओर आधुनिक एवं अभारतीय संस्थाओं और सिद्धान्तों की स्थापना।

कुमारस्वामी के अनुसार सामान्यतः इन मिशनरियों में किसी गैर-ईसाई सभ्यता के स्वरूप को समझने की सांस्कारिक और वैचारिक सामर्थ्य का अभाव है। इसीलिए वे भारतीय समाज की प्रचलित कुरीतियों और कुप्रथाओं को उसका स्वाभाविक अंग अथवा आदर्श मान बैठे हैं। विकृतियों के विशिष्ट उदाहरणों एवं प्रसंगों को वे सार्वभौम मान लेते हैं। कभी स्पष्ट रूप से और कभी सांकेतिक रूप से, वे भारतीय जीवन-पद्धति को असभ्य घोषित करते हैं। वे हमारे अवतारों और महापुरुषों के जीवन की अनर्गल और द्वेषपूर्ण व्याख्या करते हैं। ऐसी शिक्षा भारतीयों को अपने देश में ही बेगाना बना रही है। 'होली हिमालय' नामक पुस्तक के एक मिशनरी लेखक की ये पंक्तियाँ मिशनरी शिक्षा के उद्देश्य को स्पष्ट कर देती हैं—“भारत के सच्चे मित्र वे हैं, जो उसके मूल विचारों को बदल डालें। हमें धार्मिक तटस्थता को छोड़ना होगा, ताकि हमें अन्त में यह सफाई न देनी पड़े कि भारत में हमने व्यापार एवं शोषण से परे कोई युक्तिसंगत कार्य नहीं किया।” इस संदर्भ में वह प्रसिद्ध लेखक एवं क्रान्तिकारी लाला हरदयाल को उद्धृत करते हैं, जिन्होंने मिशनरी शिक्षा के प्रयोजन एवं प्रभाव का बड़ी वेबाकी से चित्रण किया था—

एक ईसाई मिशनरी ऐसे समाज, ऐसी राजव्यवस्था, धार्मिक एवं नैतिक व्यवस्था का प्रतिनिधि है, जो हमसे पूर्णतः भिन्न है। वह हमें एक नया नाम, नया पूजागृह और नया सामाजिक विधान देना चाहता है। उसके लिए हमारा धर्म एक मूर्खतापूर्ण अन्धविश्वास है, हमारी मान्यताएँ बर्बरता के अवशेष हैं, हमारे पूर्वज ऐसे असभ्य लोग हैं, जो सदैव नरक की आग में जलने के लिए अभिशप्त हैं। उसके लिए हमारे शास्त्र, हमारा दर्शन रद्दी कागज के टुकड़े हैं। वह एक ऐसे युग की परिकल्पना करता है, जब भारतीय विस्मृति के शिकार हो जाएँगे और रामलीला एक निरर्थक शब्द बनकर रह जाएगी।

इंग्लैंड में संस्कृत भाषा एवं साहित्य का अध्ययन-अध्यापन ईसाई मिशनरियों के तत्वावधान में आरम्भ हुआ। परन्तु उसका मूल उद्देश्य भारतीय धर्म-दर्शन के

सिद्धान्तों एवं मान्यताओं को भ्रामक और खोखला सिद्ध करना था। कुमारस्वामी ने कहा कि एक आधुनिक बुद्धिवादी संस्कृत तो जानता है, पर उसमें शास्त्रों के गूढ़ अर्थों को समझने की धार्मिक एवं सांस्कारिक क्षमता नहीं है। परिणामतः, इन विद्वानों ने शास्त्रीय सिद्धान्तों की अधकचरी एवं अनर्गल व्याख्याएँ कीं और दुर्भाग्यवश, उनका भारत के प्रबुद्धवर्ग पर गहरा प्रभाव पड़ा। 'आध्यात्मिक वर्ण-संकरों' (spiritual bastards) की एक ऐसी जमात पैदा हो गई, जो आत्म-बोध और आत्म-विश्वास से सर्वथा रहित थी; और जो भारत की सांस्कृतिक विरासत के महती कोष को गँवा चुकी थी। इसे पुनर्जागरण काल की त्रासदी ही कहा जाएगा कि संस्कृत भाषा को सांस्कृतिक विलगाव और आत्म-वितृष्णा का यंत्र बनाया गया। परन्तु कुमारस्वामी सर जार्ज बर्डवुड, डी मार्गन, जार्ज बूले, इमर्सन और रेने गेनो जैसे उन पाश्चात्य मनीषियों के प्रति गहरी श्रद्धा रखते थे, जिन्हें भारतीय संस्कृति की सम्यक् समझ थी, जो भारतीय समाज-व्यवस्था और जीवन-दृष्टि को एक महान सभ्यता का दृष्टान्त मानते थे, और जो इसलिए भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना को एक गंभीर दुर्घटना मानते थे। उनका यह विश्वास भी था कि ब्रिटिश साम्राज्य के प्रकट या प्रच्छन्न पैरोकार बनकर ईसाई मिशनरी ईसाइयत की सम्यक् और मूल भावना से दूर चले गए हैं। यदि वे धर्मान्तरण न कर धर्म के सनातन सिद्धान्तों की ओर भारतवासियों को उन्मुख करें तो वे भारत को एवं स्वयं को आधुनिक अनीश्वरवादी पाश्चात्य सभ्यता के कलुषित प्रभावों से बचा सकेंगे, और यही भारत और ईसाइयत के प्रति उनकी सच्ची सेवा होगी।

पुनर्जागरण काल में भारत की आर्थिक-सामाजिक पुनर्रचना का प्रश्न भी प्रमुखता से उठा। पाश्चात्य इतिहासकारों एवं समाजशास्त्रियों का एक वर्ग भारत को एक ऐसा जड़ समाज घोषित कर चुका था, जिसमें शताब्दियों से कोई प्रगति नहीं हुई थी। विलियम जोन्स, जेम्स मिल एवं सर हेनरी मेन जैसे विद्वान 'अपरिवर्तनशील' पूर्वी सभ्यताओं की जड़ता को समाप्त करने का दायित्व यूरोप का मानते थे। हीगेल ने आधुनिक यूरोप को मानव-सभ्यता के विकास का गंतव्य बताते हुए कहा कि पूर्वी देशों में इतिहास का प्रवाह थम-सा गया है। इन विचारकों एवं इतिहासकारों ने अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी के भारत की विद्रूपताओं और विकृतियों को उसकी सभ्यता की विशेषताएँ मान लिया। इस पृष्ठभूमि में यह स्वाभाविक था कि भारत का नव-शिक्षित वर्ग देश के आर्थिक एवं सामाजिक आधुनिकीकरण का मुद्दा उठाता। भारतीय उदारवादियों नौरोजी, रानाडे, गोपालकृष्ण गोखले और आर.सी. दत्त आदि ने ब्रिटिश शासकों से यह अनुरोध किया कि वे आधुनिक आर्थिक एवं सामाजिक सिद्धान्तों के आधार पर भारत के नव-निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ करें और इसमें देरी करने से भारत के साथ ही ब्रिटिश साम्राज्य का भी अहित होगा। ब्रिटिश नौकरशाही से इस उदारवादी नेतृत्व की मुख्य शिकायत यह थी कि वह ब्रिटिश साम्राज्य के महान उद्देश्यों की पूर्ति में बाधक बन रही है, और बड़े भोड़े ढंग से भारत का आर्थिक शोषण

कर साम्राज्य के प्रति भारतीयों की निष्ठा को कमजोर कर रही है। दादाभाई नौरोजी ने सरकार को उलाहना देते हुए कहा कि भारत में शासक-वर्ग उस प्रकार का नेतृत्व प्रदान नहीं कर रहा है, जैसी कि उससे आशा थी। इंग्लैण्ड जो कि स्वतंत्रता एवं प्रतिनिधि-शासन का जन्मदाता है, को इन आदर्शों को भारत में स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिए।

कुमारस्वामी इस उदारवादी राजनीतिक-आर्थिक दर्शन के उसी प्रकार कटु आलोचक हैं, जिस प्रकार महात्मा गाँधी एवं श्री अरविन्द हैं। उन्होंने अपने विभिन्न लेखों में उद्योगवाद एवं सुधारवाद के तत्त्वशास्त्र पर व्यंग्य और आलोचना के तिलमिला देनेवाले तीर छोड़े हैं। प्रखर अन्तर्दृष्टि से सम्पन्न उनके तर्क आधुनिक औद्योगिक सभ्यता के अमानवीय और अनैतिक पक्षों को भलीभाँति उजागर कर देते हैं। उन्होंने उदारवादी पूँजीवाद और साम्यवाद तथा इन दोनों के सामान्य घटक—उद्योगवाद (Industrialism) के तात्त्विक आधारों का अकाट्य तर्कों और युक्तियों से प्रतिवाद एवं खंडन किया है। वह शाश्वत दर्शन (*Philosophia Perennis*) जो विश्व की परम्परागत संस्कृतियों का प्रस्थान-बिन्दु रहा है, उनके तर्कों एवं युक्तियों की भावभूमि है। वह 'आर्थिक मानव' की अवधारणा को हेय एवं हास्यास्पद मानते हैं; 'जीवन-स्तर' के मात्रात्मक सिद्धान्त को मानव की गरिमा एवं आनन्द के लिए विधातक मानते हैं; और उद्योगवाद को नैतिक एवं आर्थिक दृष्टि से पतनकारी मानते हैं। उनका विचार है कि पूर्वी सभ्यताओं ने जीवन एवं जगत् को इस पदार्थवादी और भोगवादी दृष्टि से नहीं देखा। जीवन का आनन्द प्रकृति के प्रति मातृभाव रखने में है, विजेता का भाव रखने में नहीं; सन्तोष में है, तृष्णा में नहीं; सहजता में है, जटिलता में नहीं। ("To have set out to 'conquer' nature, to have thought of discontent as 'divine', to have honoured the discoveries of 'new wants'—these positions of 'social gospel' are none of those that the East has thought of as making for happiness.")³ साम्यवादियों पर कटाक्ष करते हुए उन्होंने कहा कि जिस 'आम आदमी' (Common Man) के कल्याण को लेकर वे चिंतित हैं, उसका अकल्याण तो वे पहले ही कर चुके हैं; उन्होंने उसे अपने शाश्वत स्वरूप से वंचित कर सर्वहारा बनाकर सड़क पर खड़ा कर दिया है। ("How many of our 'communists', I wonder, realize that the reference of the 'common man', *Communis homo*, was originally not to the man in the street as such but to the immanent deity μ the very Man in everyman.")⁴

भारतीय संस्कृति में व्यक्ति की आजीविका और समाज के आर्थिक विकास के प्रश्नों को पुरुषार्थ चतुष्टय के विराट संदर्भ में हल किया गया है। 'स्वधर्म' की अवधारणा एक श्रेष्ठ संस्कृति का प्राण-तत्त्व है। 'स्वधर्म' का भाव आर्थिक सम्पन्नता, सामाजिक सामंजस्य और आत्मिक परितोष का संवर्धक है। यह जीवन को कला में परिणत करने का माध्यम है, व्यष्टि में समष्टि का अवतरण है, और समष्टि में विराट

का आविर्भाव है। आधुनिक औद्योगिक सभ्यता आवश्यकताओं के विस्तार पर आधारित है, लेकिन परम्परागत समाजों में आवश्यकताओं का नियमन एवं नियंत्रण करने पर बल दिया जाता है। आधुनिक औद्योगिक सभ्यता में उत्पादन आर्थिक लाभ के लिए किया जाता है, लेकिन परम्परागत समाज में उत्पादन का लक्ष्य मनुष्य की भौतिक-आर्थिक आवश्यकताओं की सम्यक् संतुष्टि है। आधुनिक सभ्यता की दृष्टि मूलतः मात्रात्मक है, जबकि परम्परागत समाज गुणात्मकता पर बल देता है। परम्परागत समाज में एक कृषक या श्रमिक मूलतः कलाकार है, न कि वेतन-भोगी (wage-earner), उनके लिए कार्य पूजा (vocation) है, विवशता या भार नहीं। वहाँ आर्थिक एवं औद्योगिक क्रियाएँ जीवन के वृहत्तर और उच्चतर उद्देश्यों की पूर्ति का साधन हैं, न कि अपने में साध्य या स्वायत्त। आर्थिक एवं औद्योगिक क्रियाएँ आत्मानुभूति की उपकरण हैं, वे मात्र उदर-पूर्ति के लिए नहीं हैं।

कुमारस्वामी के अनुसार आधुनिक सभ्यता अपने समतावादी (Egalitarian) आग्रह के कारण प्रधान एवं गौण, उच्चतर एवं निम्नतर, श्रेय और प्रेय में भेद नहीं कर पाती। इसी समतावादी आग्रह के कारण भारत की वर्ण-व्यवस्था की कुत्सित और दुर्भावनापूर्ण व्याख्याएँ की गईं, वर्ण और वर्ग को पर्याय मान लिया गया एवं आधुनिक औद्योगिक सभ्यता के संघर्षों एवं विद्रूपताओं को भारतीय सभ्यता पर प्रक्षेपित किया गया। वंश-परम्परा से प्राप्त और स्वधर्म के उदात्तभाव से सम्पादित किसी आर्थिक या औद्योगिक क्रिया में न तो ईर्ष्या एवं तज्जनित संघर्ष की गुंजाइश है और न ही नीरसता एवं तज्जनित ऊब की। उसमें नैतिक-आत्मिक उद्देश्य प्रधान है, आर्थिक उद्देश्य गौण; उसमें समष्टि का सुख प्रधान है, निज लाभ गौण। वहाँ लौकिक क्रियाएँ अन्ततः श्रेय के लिए सम्पादित की जाती हैं। एक ऊर्ध्वगामी सभ्यता में वैशिष्ट्य और वैषम्य जीवन में सौन्दर्य, सन्तुलन और आनन्द की सृष्टि करते हैं। कुमारस्वामी उद्योगवाद को भारत जैसी महान संस्कृति के पुनर्निर्माण का आधार बनाने के तीव्र विरोधी थे, क्योंकि इसमें वस्तुएँ प्रधान हो जाती हैं और व्यक्ति गौण; उत्पादन-कार्य सृजनात्मक आनन्द का स्रोत नहीं होता, वरन् नीरसता एवं ऊब उत्पन्न करता है; और उत्पादित वस्तुएँ अपनी कलात्मकता खो देती हैं। उन्नीसवीं सदी के इंग्लैण्ड के विचारकों—विलियम मॉरिस, रस्किन, विलियम ब्लैक, मैथ्यू आर्नल्ड आदि की भाँति वे उद्योगवाद में अन्तर्निहित नैतिक और सामाजिक दुष्परिणामों को लेकर बहुत चिंतित एवं सशक्त थे। रस्किन के वाक्य ‘कला से रहित उद्योग बर्बरता है’ (‘Industry without art is brutality’) को तो उन्होंने मूल मंत्र की भाँति ग्रहण कर लिया था। आधुनिक उद्योगवाद भोगवादी जीवन-दृष्टि का परिणाम है और इसलिए आर्थिक एवं औद्योगिक क्रियाओं ने मनुष्य एवं प्रकृति, मनुष्य एवं मनुष्य, तथा मनुष्य एवं ईश्वर के सहज, सनातन और सार्थक सम्बन्धों को छिन्न-भिन्न कर दिया है। परम्परागत समाजों की आर्थिक-औद्योगिक संरचना इन सम्बन्धों को केन्द्रीय मानकर हुई। वहाँ भौतिक नहीं, पराभौतिक प्रधान है; भौतिक-आर्थिक का प्रबन्ध और संचालन पराभौतिक

की केन्द्रीयता को बनाए रखने के लिए होता है। ऐसी व्यवस्था में उत्पादक का सर्वतोमुखी विकास और उत्पादित वस्तु की उत्कृष्टता—दोनों को सहज रूप में उपलब्ध कर लिया जाता है। भारत में वर्णाश्रम व्यवस्था को व्यष्टि और समष्टि के स्तर पर ऐसी सामाजिक-आर्थिक संरचना का आधार बनाया गया, जिसमें लौकिक समृद्धि एवं सम्पन्नता और पारलौकिक कल्याण का सामंजस्य है। साधारण जीवन असाधारण जीवन के लिए है, और वर्णाश्रम धर्म साधारण और असाधारण—दोनों की प्राप्ति एवं परिपूर्णता का हेतु है। कुमारस्वामी ब्रिटिश विद्वान जार्ज बर्डवुड के इस उद्धरण के द्वारा परम्परागत समाज-व्यवस्था के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं—

उस समाज में सभी एक अविभक्त और अविभाज्य सम्पूर्ण के अंग हैं; वहाँ की धार्मिक व्यवस्थाएँ प्रत्येक को समुचित सम्मान देती हैं; वहाँ समाज के मूल दायित्वों के सम्पादन हेतु प्रत्येक पद और व्यवसाय पिता से पुत्र को हस्तांतरित होता रहता है। वहाँ ब्राह्मणों के प्रभाव और विलक्षण ज्ञान की छत्रछाया में एक स्व-पर्याप्त, आत्मनिर्भर, सन्तुलित और पूर्णतः सौहार्द्रपूर्ण अर्थव्यवस्था, जिसके दैवीय स्वरूप में लोगों का दृढ़ विश्वास है और जो हर राजनीतिक एवं आर्थिक झंझावात से सुरक्षित है, दृष्टिगोचर होती है। ऐसी आदर्श व्यवस्था हमें असंभव लग सकती है, लेकिन वह अभी भी विद्यमान है; भारतीयों के दैनिक जीवन में जीवित है; और यह आधुनिक इहलोकवादी, आनन्दरहित, क्षीणकाय और आत्मघाती पश्चिमी सभ्यता पर उसकी श्रेष्ठता का असंदिग्ध प्रमाण है।¹⁵

कोई सामाजिक व्यवस्था काल प्रवाह में भ्रष्ट और विकृत भी हो जाती है। कुप्रथाएँ एवं कुरीतियाँ अन्याय एवं दमन को बढ़ावा देने लगती हैं; संस्थाएँ अपने सम्यक् उद्देश्यों से विचलित हो जाती हैं। व्यक्ति और समूहों के स्वार्थ उनकी बुद्धि को मलिन कर देते हैं, जिसके कारण विकृतियों का पक्ष-पोषण करने के लिए कुतर्क गढ़े जाते हैं। इस दुरवस्था से उबरने का क्या उपाय है? कुमारस्वामी के अनुसार परम्परागत चिन्तन में यह उपाय बुद्धि-परिष्कार माना गया है; संस्थाओं का उन्मूलन या उनमें आमूल परिवर्तन नहीं। असत् दृष्टि विकृति की जननी है। संस्थाएँ जिन शाश्वत सिद्धान्तों पर प्रतिष्ठित हैं वे अकाट्य एवं अत्याज्य हैं। परिणामतः दुरवस्था से उबरने का उपाय दृष्टि का सुधार है, न कि संस्थाओं में रहोबदल या कुमति-जन्य प्रयोगवाद। कुमारस्वामी स्पष्ट करते हैं कि अंग्रेजी शब्द ‘रिफॉर्म’ (Re-form) का मूल आशय यह है कि मूल स्वरूप (Form) से जो विचलन हो गया है उसको दूर किया जाए और मूल-स्वरूप की पुनर्प्रतिष्ठा कर दी जाए। वर्णाश्रम व्यवस्था के सम्यक् उद्देश्य को समझे बिना कालक्रम में आई सामाजिक विकृतियों एवं विद्रूपताओं का निराकरण करने का प्रयास वांछित परिणाम नहीं देगा, वरन् व्यवस्था और चरमरा जाएगी। मात्रात्मक अथवा प्रतिस्पर्धात्मक मापदण्डों से जीवन-स्तर को मापना या समझना मानवीय जीवन की समग्रता एवं गरिमा का तिरस्कार है। स्पष्ट है कि कुमारस्वामी आधुनिक औद्योगिक सभ्यता को इसलिए चुनौती देते हैं कि इसमें मात्र

रोजी-रोटी को जीवन का पर्याय मान लिया गया है। उन्होंने कहा कि जब हमारे राजनेता एवं विचारक ब्रिटिश शासकों से औद्योगिकीकरण की गुहार लगाते हैं या उन्हें भारत में औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ करने का श्रेय देते हैं, तो उन्हें उद्योगवाद के वर्तमान एवं भावी निहितार्थों पर विचार कर लेना चाहिए। सुधी पाठकों को यह स्मरण दिलाने की आवश्यकता नहीं कि बोटल से बाहर आकर इस उद्योगवाद रूपी जिन्न ने विगत एक सदी में क्या-क्या कहर ढाए हैं।

भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के बाद उसके शोषण एवं दोहन को लेकर उदारवादी राजनेताओं ने ब्रिटिश शासन पर करारे प्रहार किए थे। कुमारस्वामी की विशिष्टता इस बात में है कि उन्होंने ब्रिटिश सरकार की आर्थिक एवं औद्योगिक नीतियों के परम्परागत दस्तकारियों पर हो रहे विनाशकारी प्रभावों की गंभीर विवेचना की। परम्परागत दस्तकारियाँ भारतीय सभ्यता के पुष्प हैं, जो विजातीय शासन के विषाक्त वातावरण में कुम्हला रहे हैं और विडम्बना यह कि इसे भारत का नव-निर्माण बताया जा रहा है। कलाविद् कुमारस्वामी परम्परागत कलाओं एवं शैलियों के इस अवसान से, जिसके लिए वे ब्रिटिश शासकों की वणिक्-बुद्धि और भारतीयों के आत्म-विस्मरण को समानरूप से उत्तरदायी मानते थे, अत्यन्त आहत एवं चिन्तित थे। वे स्थापत्यकला, चित्रकला, वस्त्र-निर्माण, पीतल-उद्योग आदि विभिन्न क्षेत्रों में बढ़ती वर्ण-संकरता, सिद्धान्तहीनता एवं कल्पना-शक्ति के अभाव से बहुत व्यथित थे, क्योंकि भारतीय जीवन-दृष्टि एवं उसकी अद्भुत सृजन-सामर्थ्य संकटग्रस्त हो रही थी। उन्होंने भारतीयों से प्रश्न किया कि क्या यह जरूरी है कि एक सदी का विजातीय शासन हमें अपनी सहस्रों वर्षों की विरासत से वंचित कर दे? इंग्लैंड तो साम्राज्यवादी उद्देश्यों से प्रेरित होकर भारत की परम्परागत कलाओं एवं दस्तकारियों को नष्ट कर रहा है, लेकिन भारत के संभ्रान्त वर्ग का एक बड़ा भाग अपने अज्ञान, दुर्बलता और दंभ (Snobbishness) के कारण सरकार के क्रियाकलापों में सहयोग कर रहा है। परम्परागत दस्तकार एवं कारीगर न केवल ब्रिटिश शासन के शोषण के शिकार हैं, वरन् वे राज्याश्रय के अभाव और भारतीयों की उपेक्षा एवं उदासीनता के कारण कला एवं शिल्प की अपनी सदियों पुरानी साधना छोड़ने को बाध्य हैं। कुमारस्वामी के अनुसार श्रम एवं कला का संयोजन भारत की विशिष्टता रही है, परम्परागत दस्तकारियाँ आर्थिक एवं आत्मिक लाभ की स्रोत रही हैं।

इन दस्तकारियों का हास न केवल विपुल राष्ट्रीय सम्पदा का नाश है, वरन् वह राष्ट्रीय संस्कृति का नाश भी है। इस संदर्भ में कुमारस्वामी 1879 में इंग्लैंड के प्रमुख चिन्तकों—विलियम मॉरिस, मॉनियर विलियम्स, एडविन आर्नल्ड, एडवर्ड बर्न-जोन्स, वाल्टर क्रेन आदि के द्वारा सर जार्ज बर्डवुड को लिखे उस पत्र का उल्लेख करते हैं, जिसमें उन्होंने भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के उपरान्त परम्परागत कलाओं में तेजी से आई गिरावट पर चिन्ता प्रकट की थी। इन मनीषियों ने कहा कि उत्कृष्ट दस्तकारी की जो वस्तुएँ पहले बाजारों में सहज रूप से दिखाई पड़ती थीं, अब वे

संग्रहालयों में सिमटती जा रही हैं।⁶ कुमारस्वामी मानते थे कि ऐसे राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन का विशेष औचित्य नहीं, यदि इसका लक्ष्य दैनिक जीवन की वस्तुओं और गतिविधियों में भारतीय दृष्टि एवं भारतीय प्रतिभा का अभिव्यक्तिकरण नहीं है।

कुमारस्वामी का कलानुराग उन्हें स्वदेशी के दर्शन के सन्निकट ले जाता है। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशक में भारत के चिन्तकों एवं राजनेताओं ने स्वदेशी को भारत के राजनीतिक एवं आर्थिक पुनरुत्थान का साधन माना। कुमारस्वामी ने अपने अनेक लेखों व भाषणों में स्वदेशी के सिद्धान्त का विवेचन किया है; और विलक्षण अन्तर्दृष्टि से स्वदेशी के सत् और असत् स्वरूप को स्पष्ट किया है। स्वदेशी-दर्शन स्वधर्म की सनातन मान्यता का अर्वाचीन निर्वचन है। कुमारस्वामी कतिपय तत्कालीन राजनीतिज्ञों के स्वदेशी को मात्र राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति का यंत्र बनाने के प्रयासों से क्षुब्ध थे। स्वदेशी को मुख्यतः वाणिज्यिक या राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए रणनीति के रूप में प्रयुक्त करना राजनीतिक चतुराई या आर्थिक कौशल का प्रमाण हो सकता है, परन्तु इससे राष्ट्रीय अस्मिता एवं स्वाभिमान की पुनर्प्रतिष्ठा संभव नहीं है। स्वदेशी एक जीवन-पद्धति है; राष्ट्र के प्रति निष्ठा एवं समर्पण है। यह अपने मूल व विशिष्ट स्वरूप में प्रविष्ट करने की प्रक्रिया है; यह भारत के आत्मिक एवं नैतिक उद्धार की संजीवनी है। कुमारस्वामी स्वदेशी आन्दोलन के कर्णधारों की दृष्टि एवं तर्कों से सहमत नहीं थे। इसके कर्णधारों का तर्क था कि स्वदेशी अपनाने से भारत का धन इंग्लैंड जाने से रुक जाएगा, क्योंकि हम मानचेस्टर और लंकाशायर में बननेवाली वस्तुओं का भारत में उत्पादन कर सकेंगे। इससे भारत में औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया तीव्र होगी, जनता को सस्ती वस्तुएँ मिल सकेंगी एवं भारतीय सम्पदा का दोहन रुक जाएगा। कुमारस्वामी ने तर्क दिया कि क्या भारत को बर्मिंघम या पेरिस का कस्बा बना देना स्वदेशी है? क्या ऐसी वस्तुओं का, जो न भारतीय जीवनशैली का अंग हैं और न जीवनोपयोगी, जो मात्र हमारे दंभ को सन्तुष्ट करने की साधन हैं, भारत में उत्पादन करना या भारतीयों द्वारा उनका उपयोग करना क्या स्वदेशी है? क्या यूरोपीय जीवन शैली से जुड़ी वस्तुओं—चाहे वे वस्त्र हों या वास्तु या विलासिता की अन्य विविध सामग्री—को भारतीयों द्वारा अपनाना एवं उनका उत्पादन करने के लिए मिल-कारखाने खोलना भारत के आर्थिक एवं नैतिक उन्नयन में सहायक है? उन्होंने भारत में जन-सामान्य और संभ्रान्त वर्ग—विशेषतः देसी रियासतों के नरेशों में विदेशी वस्तुओं के प्रति बढ़ते आकर्षण की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा कि आज लोग अपने भवनों एवं महलों को यूरोपीय शैली में बनाने, अपने घरों को यूरोपीय शैली की मेज-कुर्सियों, कालीनों एवं अलंकरण की अन्य वस्तुओं से सजाने एवं यूरोप से आयातित वस्त्र पहनने में अपनी शान समझते हैं। ये लोग इस बात का विचार नहीं करते कि ऐसा कर वे भारतीय अस्मिता को कितनी हानि पहुँचा रहे हैं। यह कितना बड़ा विरोधाभास है कि हम राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करें और हमारे विचार, हमारी रुचि एवं जीवनशैली और हमारी इमारतें पाश्चात्यता में आकंठ डूबी हों। इस

संदर्भ में वह कतिपय दृष्टांत देते हैं। भारतीय संगीत से जुड़े वाद्ययंत्रों के निर्माण में तेजी से गिरावट आई, क्योंकि पाश्चात्य वाद्ययंत्रों जैसे हारमोनियम, वॉयलिन, पियानो आदि की माँग और चलन तेजी से बढ़ा। विदेशी कपड़े का प्रयोग बढ़ने से भारत के परम्परागत वस्त्र-उद्योग पर संकट मँडराने लगा। इन उद्योगों से जुड़े कारीगरों के सामने आजीविका का संकट उत्पन्न हो गया, और इससे अधिक चिन्ताजनक यह है कि भारत के परम्परागत उद्योगों एवं कलाओं के विलुप्त हो जाने का खतरा पैदा हो गया। इन्हें ब्रिटिश शासकों का संरक्षण न मिलना आश्चर्यजनक नहीं है, परन्तु यह अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण है कि उन्हें भारतीय जनता, भारत के सभ्रान्त वर्ग एवं राजे-रजवाड़ों का संरक्षण न मिले। हमारी परजीविता के कारण भारत की उन्नत कलाएँ एवं दस्तकारियाँ विनाश के कगार पर पहुँच गईं। कुमारस्वामी ने कटाक्ष करते हुए कहा कि विदेशों से आयातित माल के बहिष्कार करने से अधिक आवश्यक यह है कि हम भारतीय दस्तकारों एवं दस्तकारियों का बहिष्कार करना बन्द करें।⁷

अन्ततः भारतवासी ही भारतीय कलाओं एवं दस्तकारियों के वास्तविक संरक्षक हैं, लेकिन पश्चिम के व्यामोह से मुक्त हुए बिना यह संभव नहीं। विदेश में निर्मित या विदेश से आयातित वस्तुओं का बहिष्कार करना स्वदेशी का एक पक्ष है, परन्तु विदेशी वस्तुओं एवं सामग्रियों के भारतीय संस्करण से बचना उसका अधिक महत्वपूर्ण पक्ष है। कुमारस्वामी ने उन ब्रिटिश इतिहासकारों एवं कलाविदों को, जिन्हें परम्परागत कलाओं एवं दस्तकारियों की गहरी समझ थी और जो इनकी दुर्दशा से बहुत क्षुब्ध थे, बार-बार उद्धृत किया है। हेवेल ने भारतीयों को चेतावनी देते हुए कहा—“अपनी कलाओं और उद्योगों को पुनर्जीवित करने के लिए ब्रिटिश सरकार से गुहार लगाना बन्द कर दीजिए। आप स्वयं ऐसा करने में सक्षम हैं और आपको ऐसा करना भी चाहिए। जब आप इन्हें पुनर्जीवित कर लेंगे, कोई सरकार आपको राजनीतिक अधिकार देने से न बच पाएगी। भारतीय कलाओं के विकास से भारत को अपनी खोई हुई सृजन-शक्ति पुनर्प्राप्त हो जाएगी।” सर जार्ज बर्डवुड ने कहा—“भारत के सभ्रान्त वर्ग के स्त्री-पुरुषों को अपने देश में और अपनी शैली में बने हुए वस्त्र एवं शृंगार-सामग्री का प्रयोग करने में ही अपनी महत्ता समझनी चाहिए।” भारत में पाश्चात्य के प्रति बढ़ते आकर्षण पर क्षोभ प्रकट करते हुए हैरिस ने लिखा—“जनसामान्य की अभिरुचि में एक गिरावट दिखाई देती है। आप किसी बड़े शहर के निकट स्थित गाँव की सड़कों पर निकलें तो पाएँगे कि लोग मानचेस्टर या जर्मनी में बने कपड़ों को खूब इस्तेमाल करते हैं। उस सफेद या रंगीन भारतीय वस्त्र, जिसका निर्माण कुटीर उद्योगों में होता था और जो न केवल भारत में पहना जाता था, वरन् उन्नीसवीं सदी के मध्य तक विदेशों को बड़ी मात्रा में निर्यात किया जाता था, का स्थान तेजी से इन आयातित वस्त्रों द्वारा लिया जा रहा है।” सर जी. वॉट ने लिखा—“केवल बनारस में ही नहीं, सम्पूर्ण भारत में हजारों वर्षों की साधना से अर्जित परम्परागत कला की सुन्दर

शैलियों को तिलांजलि दी जा रही है और उनके स्थान पर निकृष्ट एवं अनुपयोगी कला-शैलियों को बढ़ावा दिया जा रहा है।”

स्पष्टतः स्वदेशी की व्याप्ति सम्पूर्ण जीवन में होनी चाहिए। स्व-शासन उसका राजनीतिक रूप है, परन्तु स्वदेशी के प्रति आग्रह एवं उत्साह तो स्थापत्य, संगीत, शिक्षा, खान-पान, साज-शृंगार आदि सभी क्षेत्रों में प्रतिबिम्बित होना चाहिए। स्वदेशी का प्रश्न मात्र आर्थिक आय या बचत का नहीं है, यह उसका स्थूल पक्ष हो सकता है। स्वदेशी एक राष्ट्र के विचार और आचार का सहज प्रवाह है। परम्परागत कलाएँ एवं दस्तकारियाँ मात्र आजीविका का साधन नहीं रही हैं, उनमें भारतीय चेतना की प्रतिध्वनि सुनाई देती है। कुमारस्वामी का दृढ़ विश्वास था कि भारत का पुनर्जागरण भारतीय कला की पुनर्प्रतिष्ठा से ही संभव है। कला जीवन है और जीवन कला। यदि इस कला-बोध का क्षरण हुआ तो भारतीय अस्मिता का विघटन हो जाएगा।

कुमारस्वामी भारत में आधुनिक उद्योगवाद के बढ़ते कदमों से इसलिए चिंतित थे, क्योंकि मशीनीकरण कला एवं कलाकार का शत्रु है। औद्योगिकीकरण ने पाश्चात्य देशों में जो गंभीर नैतिक एवं आर्थिक संकट उत्पन्न किया, वे भारतीय नेतृत्व को उससे सीख लेने का आग्रह करते हैं। औद्योगिकीकरण सृजनात्मकता का विघातक है, सन्तोष-वृत्ति का निषेध है और पदार्थवादी दृष्टि का विस्तार है। भारत का कल्याण इस उद्योगवाद को अंगीकार करने में नहीं, इसका प्रतिकार करने में है। भारत को कल-कारखानों से पाट देना, उत्पादन के नाम पर भोंडी विलासिता एवं निरर्थक वस्तुओं के प्रति आकर्षण उत्पन्न करना, कारीगरों को कलाकार से सर्वहारा बना देना—ये सभी स्वदेशी के उदात्त आदर्शों का हनन है। एक औद्योगिक भारत आधुनिक पश्चिम की मलिन प्रतिकृति ही होगी।

आधुनिकता के मोहपाश में आवद्ध लोग कुमारस्वामी के दृष्टिकोण को स्वभावतः प्रतिगामी एवं रुढ़िवादी कहेंगे। परम्परागत भारतीय चिन्तन में सप्त ज्ञान-भूमियों और सप्त अज्ञान-भूमियों का उल्लेख किया गया है। आधुनिक चिन्तक अज्ञान की पाँचवीं भूमि देहात्मवाद, अथवा छठी भूमि देहातिरिक्त आत्मवाद, अथवा सातवीं भूमि आत्मातिरिक्त शक्तिवाद पर कहीं खड़े हैं। उनके सिद्धान्त एवं तर्क इन्हीं धरातलों पर विचरण करते हैं। बुद्धि पर भौतिकता के न्यूनाधिक प्रभाव के अनुसार वे मानव जीवन एवं उसके उद्देश्यों की व्याख्या करते हैं। दृष्टि की स्थूलता के कारण पुरुषार्थ की व्याख्या भी स्थूल धरातल पर होती है। लेकिन ज्यों-ज्यों बुद्धि भौतिकता के प्रभाव से उबरती है, उसकी सूक्ष्म क्षमताएँ जागृत होने लगती हैं, और जीवन एवं जगत के उच्चतर सत्य उद्घाटित होने लगते हैं। इस स्थिति में मानवीय पुरुषार्थ के उच्चतर सोपानों का आभास होने लगता है और मानवीय कल्याण के विविध एवं वृहत् आयाम प्रकट होने लगते हैं। कुमारस्वामी इसी सम्यक्-दृष्टि की पुनर्स्थापना चाहते हैं; और इस सम्यक्-दृष्टि का स्रोत परम्परा है। इस दृष्टि के अवतरण से दृश्य, पदार्थ एवं कार्य एक

विराट शृंखला के अंग के रूप में प्रकाशित होने लगते हैं। वे यह मानते हैं कि आधुनिक यूरोप उन सनातन सिद्धान्तों से भटक गया है जो यूनानी, रोमन और मध्यकालीन ईसाई सभ्यता के द्वारा प्रतिपादित किए जाते रहे हैं। वे भारतवासियों को आधुनिक ईसाई यूरोप का एक नवीन संस्करण बनने के विरुद्ध सावधान करते रहे। कुमारस्वामी पर 'अतीत में लौटने' और 'मध्ययुगीन मानसिकता को पुनर्स्थापित करने' के आरोप लगे, पर उनका उत्तर सदैव यही था कि सनातन सिद्धान्तों का पुनर्स्मरण एवं नवीनीकरण किए बिना आधुनिक सभ्यता को छिन्न-भिन्न होने से नहीं बचाया जा सकता। अपने एक निबन्ध—'क्या कला एक अंधविश्वास है या जीवन-पद्धति?' ('Is art a superstition or a way of life?') — के समीक्षक फ्लोशिम के आक्षेप कि वह हमें सामन्ती दौर में वापस ले जाना चाहते हैं, का उत्तर देते हुए कुमारस्वामी ने कहा कि वह आधुनिक मनुष्य को सनातन सिद्धान्तों की ओर वापस ले जाना चाहते हैं, और सार (Essence) तथा सांयोगिक (Accident) के अन्तर को स्पष्ट करना चाहते हैं।⁸

पुनर्जागरण काल में साम्राज्यवाद के तत्त्वावधान में उपजे आधुनिकता के ज्वार ने बड़े-बड़े शिलाखंडों को निमग्न कर दिया, परन्तु कुमारस्वामी एक वटवृक्ष की भाँति अविचल खड़े रहे। महात्मा गाँधी की भाँति वह भलीभाँति जानते थे कि आधुनिक सभ्यता चार दिन की चाँदनी है। छद्म सिद्धान्तों की क्षणिक सफलता उन्हें अभिभूत न कर सकी। उन्होंने अप्रतिम निष्ठा एवं शौर्य के साथ परम्परागत सिद्धान्तों का निरूपण किया। रोमां रोलां के अनुसार उनकी रचनाएँ आत्म-शक्ति एवं उसकी विपुल सम्पदा का उन्मीलन हैं। वे पूर्व एवं पश्चिम की परम्परागत सभ्यताओं के पुजारी हैं। वे ऐसे सद्गुरु हैं, जो कबीर के शब्दों में, 'लोचन अनत उघाड़िया, अनत दिखावन हार' की सामर्थ्य से सम्पन्न हैं।

सन्दर्भ

1. *दि डांस ऑफ शिव*, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, 1956, पृ. 127.
2. *एसेज इन नेशनल आइडियलिज्म*, मुंशीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1981 (मूल प्रकाशन-1909), पृ. 125-152.
3. *ईस्ट एंड वेस्ट एंड अदर एसेज*, ओला बुक्स लिमिटेड, कोलम्बो, 1940, पृ. 8.
4. *उपरोक्त*, पृ. 4.
5. *उपरोक्त*, पृ. 16.
6. *एसेज इन नेशनल आइडियलिज्म*, पूर्वोक्त, पृ. 69.
7. *आर्ट एंड स्वदेशी*, मुंशीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1994, पृ. 15.
8. *दि एसेन्शियल कुमारस्वामी* : (सम्पादित) राम.पी. कुमारस्वामी, वर्ल्ड विज्डम बुक्स, ब्लूमिंगटन, 2004, पृ. 172.

भारत-बोध और आनन्द कुमारस्वामी

बृजेन्द्र पाण्डेय

भारतीय विमर्श-जगत में 'भारत-बोध' का प्रश्न बार-बार उठना आत्म-विस्मरण के कुहासे से बाहर निकलने की बेचैनी के रूप में देखा जा सकता है। यह भी एक विडम्बना है कि भारतीय राजनीति के सत्ता-केन्द्र में जब-जब भारतीय जनता पार्टी प्रतिष्ठित होती है, इस प्रकार के प्रश्न जोर-शोर से उठाए जाने लगते हैं; एवं विश्वविद्यालयों, अकादमिक संस्थानों के शीर्षस्थ पदों पर 'भारत-बोध' की चिन्ता से ग्रस्त महानुभावों को स्थापित किया जाने लगता है। कुछ अन्य सुषुप्त संस्थाएँ भी अचानक जागृत और सक्रिय हो उठती हैं, वे कुछ उपेक्षित विचारों को 'हवा' देने लगती हैं, और फिर सत्तावसान के साथ ही इन सभी अभियानों का वेग मंद और आभा क्षीण पड़ जाती है। 'भारत-बोध' एक गंभीर और दीर्घजीवी महत्त्व का प्रश्न है। दीर्घकाल की भारतीय पराधीनता और ब्रिटिश उपनिवेशवाद के जटिल, किन्तु अन्तर्गंग प्रभाव के कारण यह प्रश्न उत्पन्न हुआ है। यह कई दृष्टियों से विचारणीय प्रश्न है। इस पर विचार करने की प्रक्रिया के अन्तर्गत 'भारत-बोध' को क्षीण करने वाले तत्त्वों की पहचान तो करनी ही है, साथ ही उनसे बाहर निकलने का उपाय भी सोचना है; किन्तु साथ में 'भारत-बोध' के स्थायी लक्षणों को इस दीर्घकालिक और सघन कुहासे के बीच से पहचानना और उसके प्रति स्वीकृति का भाव भी विकसित करना है। दूसरे शब्दों में, यह हमारे विस्मृत 'आत्म-बोध' की गवेषणा और उसकी पुनर्प्रतिष्ठा का महाअभियान है। इस महत् प्रयास में हमें इस केन्द्रीय प्रश्न के स्थायी और निर्णायक महत्त्व को क्षणमात्र के लिए भी दृष्टिपटल से ओझल नहीं होने देना है।

* बृजेन्द्र पाण्डेय : उपाचार्य, राजनीतिशास्त्र, विद्यान्त महाविद्यालय, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, सचिव, कुमारस्वामी फाउण्डेशन, सह-सम्पादक, *तत्त्व-सिन्धु* / कृतियाँ : Re-membering Tradition: AK Coomaraswamy and AK Saran, Exploring Universalism, Re-thinking Indian Political Thought, Reflections: Philosophia Perennis in Contemporary Context, परम्परा : सनातन सन्दर्भ और आधुनिक भारत के प्रश्न brijendra_pandeyji@yahoo.co.in मो. 09451155116.

साथ ही इस प्रश्न पर विचार करने के लिए बड़ी सावधानी और सतर्कता की भी आवश्यकता है; केवल राजनीतिक भावावेश में इस प्रश्न पर विचार नहीं हो सकता। वस्तुतः समान-प्रकृति के प्रतीत होने वाले उन अनेक प्रयत्नों पर भी नजदीकी एवं तीक्ष्ण दृष्टि रखने की आवश्यकता है, जो पुनर्जागरण-काल से ही भारतीय विचार-पटल पर अलग-अलग व्यक्तियों/संस्थाओं/आन्दोलनों के माध्यम से प्रकट होते रहे हैं।

भारत का पुनर्जागरण-काल अनेक विरोधाभासों का काल रहा है। पुनर्स्मरण और आत्म-विस्मृति, आत्म-गौरव और आत्म-ग्लानि, दृष्टि-बोध और दृष्टिहीनता, विवेक और संभ्रम, प्रतिबद्धता और प्रमाद तथा जागरण और सुषुप्ति—ये सभी परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ इस पुनर्जागरण-काल में एक साथ दिखाई देती हैं। इसलिए इसका अन्तिम प्रभाव एक दुविधा को जन्म देता है, जिससे बाहर निकलना ही इस ‘भारत-बोध’ के प्रकल्प का वास्तविक उद्देश्य होना चाहिए। इस भारत-बोध या हम भारतीयों के लिए अपने आत्म-बोध को तलाशने का यह कार्य जटिल है क्योंकि इस पर छाया कुहासा मात्र भारतीय परिस्थितियों की ही उपज नहीं है वरन् इसकी पृष्ठभूमि में ‘आधुनिकता’ का वह घटाटोप अंधकार है, जिसने न केवल यूरोप को अपने स्वर्णिम अतीत से विमुख किया, वरन् यूरोपीय उपनिवेशवाद के माध्यम से भारतवर्ष को भी दिग्भ्रमित किया। ऐसी स्थिति में हमारे दिग्दर्शन के लिए कुछ इस प्रकार के मनीषी-महापुरुष अधिक उपादेय हो सकते हैं, जिन्हें पारम्परिक और आधुनिक, यूरोपीय और भारतीय, जीवन-दृष्टि का सम्यक्, गहन और व्यापक बोध हो।

पुनर्जागरण-काल के परिणामस्वरूप भारतीय चिन्तनधारा में अनेक नई विचार-दृष्टियों का समावेश हुआ। इनमें से अधिकांश दृष्टियाँ भारतीय सभ्यता और संस्कृति को अलग-अलग और प्रायः परस्पर विरोधी खाँचे में रखकर देखने की थीं। कुछ पाश्चात्य विचारकों के लिए भारत का सामाजिक-राजनीतिक चिन्तन कभी भी बहुत आकर्षण का विषय नहीं रहा। इसका कारण था कि भारतीय चिन्तन-परम्परा का स्वभाव आधुनिक पाश्चात्य सामाजिक-राजनीतिक चिन्तन की परम्परा के लक्षणों को प्रदर्शित नहीं करता। इसलिए वे या तो भारतीय चिन्तन-परम्परा को मिथकीय मानते हैं, अथवा वे इसके प्रति हीनता और उपेक्षा का भाव रखते हैं, या फिर वे इसके अस्तित्व को ही नकार देते हैं। भारत के सम्बन्ध में विभिन्न स्रोतों से प्राप्त जानकारी को आधुनिक पाश्चात्य ‘विद्वानों’ ने अपने ‘पाण्डित्य’ के आधार पर ‘व्यवस्थित’ रूप देने का प्रयत्न किया। भारत पर पश्चिमी उपनिवेशवाद के विस्तार के साथ-साथ इन विद्वानों ने विदेशी सत्ता, उसकी संस्कृति, उसके ज्ञान-विज्ञान, नैतिक आदेश और अपने धर्म की श्रेष्ठता को प्रमाणित करने की दृष्टि से भारतीय संस्कृति, सभ्यता, प्राचीन भारतीय कृतियों और उसके सामाजिक-राजनीतिक विचारों के सम्बन्ध में अपने बौद्धिक साँचे के अनुरूप एक मनःकल्पित चित्र प्रस्तुत किया। 1977 में प्रकाशित अपनी पुस्तक ‘ओरियण्टलिज्म’ में एडवर्ड सैड ने स्पष्ट रूप से स्वीकार

किया है कि ओरियण्टलिज्म वह यूरोपीय दृष्टि है, जिसे यूरोपीय संस्कृति को श्रेष्ठ मानने वाले विचारकों ने एशियाई, इस्लामी और अफ्रीकी संस्कृतियों के अध्ययन के लिए स्वीकार की है। यह यूरोपीय मानस में गैर-यूरोपीय संस्कृतियों की एक काल्पनिक संरचना है। इसी काल्पनिक संरचना के सन्दर्भ में उनकी साम्राज्यवादी शासन की नीतियों में संशोधन और परिवर्तन होता रहा है। भारत के प्रति इनकी धारणाएँ वही हैं, जो गैर-यूरोपीय संस्कृतियों के सम्बन्ध में थीं। बोदौ, माण्टेस्क्यू, हीगेल से लेकर मार्क्स तक सभी विचारकों ने अपनी-अपनी मानसिक ग्रन्थियों के अनुरूप भारतीय जीवन-विधान का मनःकल्पित दृश्य प्रस्तुत किया है। इन विचारकों ने भारतीय राजनीतिक व्यवस्था को निरंकुशतावादी और भारतीय सामाजिक व्यवस्था को अविकसित माना है। इनके परवर्ती विचारकों यथा मैक्स मूलर, बार्कर, विलोबी तथा डनिंग आदि ने भी भारतीय जीवन-विधान को अलौकिकता-प्रधान और यथार्थ से असम्बद्ध माना है। भारत के प्रति इस साम्राज्यवादी विचार-दृष्टि के विरोध-स्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में एक राष्ट्रवादी दृष्टि का भी विकास हुआ। भगवानलाल इन्द्रजी, आर.जी. भण्डारकर, आर.एल. मित्र, उमेश चन्द्र दत्त, पूर्णेन्दु नारायण सिंह, डॉ. काशी प्रसाद जायसवाल, ए.एस. अल्टेकर, वी.के. सरकार, पी.एन. बनर्जी, के.पी. रंगास्वामी अयंगर, रमेश चन्द्र मजुमदार, शामशास्त्री, ए.एन. लॉ., यू.एन. घोषाल, एस.बी. विश्वनाथ, एस.के. अयंगर, दिक्षितार तथा आर.के. मुखर्जी जैसे विचारकों ने पाश्चात्य आक्षेपों के विविध पक्षों का प्रत्युत्तर देने का प्रयत्न किया। यूरोपीय धारणा के समानान्तर प्राचीन भारत की श्रेष्ठता प्रमाणित करने की दृष्टि से इन विचारकों की कृतियाँ राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम के संचालन में वैचारिक अस्त्र की तरह प्रयोग में लाई गई। इन्होंने निश्चित रूप से कुछ भ्रान्तियों का खंडन भी किया, पर उत्साहातिरेक में कई बार ये विचारक यह भूल गए कि यूरोपीय धारणाओं को भारतीय परम्परा में तलाशना स्वतः अपने-आप में एक प्रकार का पूर्वाग्रह है।

राष्ट्रवादी दृष्टि के साथ ही भारतीय जीवन-विधान को देखने-परखने की मार्क्सवादी और समाजशास्त्रीय दृष्टियाँ भी विकसित हुईं। श्रीपाद अमृत डांगे, डी.डी. कोशाम्बी, रामशरण शर्मा, रोमिला थापर और डी.पी. चट्टोपाध्याय जैसे विचारकों ने मार्क्स और उसके समीक्षकों द्वारा प्रतिपादित विविध दृष्टियों के आधार पर भारतीय जीवन-विधान की व्याख्या करने की चेष्टा की। अधिकांश मार्क्सवादी विचारक भारतीय जीवन-विधान की बहुआयामिता, उसके विभिन्न सोपानों और लक्ष्यों को एक लौह-पंजरमय एक-आयामी सिद्धान्त के अनुरूप सिद्ध करने में अनावश्यक जोर-जबरदस्ती करते हुए प्रतीत होते हैं। दूसरी ओर, चार्ल्स ड्रेकमीयर, एल. दूमां, जे. गोण्डा, जे.सी. हिस्टरमैन तथा एम.एन. श्रीनिवास जैसे विचारक समाजशास्त्रीय, भाषाशास्त्रीय और नृ-शास्त्रीय दृष्टियों का अनुशीलन करते हुए भारतीय समाज की संरचना और गतिशीलता को समझने का यत्न करते हैं। ये विचारक मुख्य रूप से आधुनिक

पाश्चात्य समाजशास्त्रीय प्रारूपों को भारतीय अतीत पर आरोपित करने की चेष्टा करते हैं। आधुनिक भारत के समाज-विज्ञानियों की दृष्टि आज भी यही बनी हुई है।

भारतीय जीवन-विधान को देखने की उपरोक्त पद्धतियों से कुछ मनीषियों को असंतोष भी हुआ। भारतीय सभ्यता के इस सन्धिकाल में कुछ विलक्षण विचारकों का उदय हुआ, जिन्होंने न केवल भारत की राजनीतिक स्वाधीनता के आन्दोलन को बल प्रदान किया, वरन् इतिहास के इस पड़ाव पर भारत के भविष्य को लेकर मार्गदर्शन भी किया। लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, आनन्द कुमारस्वामी, के. सी. भट्टाचार्य, बद्रीशाह, श्रीअरविन्द, स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती, महामहोपाध्याय मोतीलाल शर्मा शास्त्री, म.म. गोपीनाथ कविराज तथा धर्मसम्राट स्वामी करपात्रीजी महाराज जैसी विभूतियों का भारतीय विचार-व्योम में प्रकट होना दैवीय सम्बल के समान है। इन परम्परानिष्ठ भारतीय मनीषियों ने यह मौलिक प्रश्न उठाया कि आधुनिक पश्चिमी चिन्तन की अवधारणाओं को प्राचीन भारत के सामाजिक-राजनीतिक चिन्तन पर आरोपित करना भारतीय चिन्तन के स्वभाव और प्रकृति के अनुकूल है या नहीं? इन मनीषियों में आनन्द कुमारस्वामी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

आनन्द कुमारस्वामी के पिता सर मुत्थु कुमारस्वामी मुदालियर सिंहल के अत्यन्त प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। वे तमिल मूल के हिन्दू थे, बड़े प्रबुद्ध शायद उस जमाने में बैरिस्टरी करने वाले कुछ थोड़े से भारतीयों में से वे एक थे। वे स्वयं पाली के बड़े अच्छे विद्वान थे। 'दठा वंश' और 'सुत्तनिपात' नामक ग्रन्थों का उन्होंने अंग्रेजी में सर्वप्रथम अनुवाद किया था। 1876 में उन्होंने प्राचीन घराने की एक अंग्रेज महिला से विवाह किया और 22 अगस्त 1877 को इस दम्पती से आनन्दकुमारस्वामी का जन्म हुआ। आनन्द अभी दो वर्ष के भी नहीं हुए थे कि उनके पिता का देहान्त हो गया और उनकी माता इन्हें इंग्लैण्ड ले आईं। वे 1942 तक जीवित रहीं। कुमारस्वामी की शिक्षा यूनिवर्सिटी कॉलेज, लन्दन में हुई जहाँ से उन्होंने भूगर्भशास्त्र में बी. एससी. और डी. एससी. की परीक्षा प्रथम श्रेणी प्रथम स्थान से उत्तीर्ण की। इसके उपरान्त वे श्रीलंका आ गए, जहाँ 1903 में मिनरोलॉजिकल सर्वे, सीलोन के डायरेक्टर के पद पर नियुक्त हुए और 1906 तक इस पद पर कार्य करते रहे। वैज्ञानिक विश्लेषण में प्रवीणता और तथ्य को ग्रहण करने की प्रवृत्ति, इन दो गुणों का परिचय उनकी इस समय की लिखी हुई सिंहल की भूगर्भ और खनिज-सम्बन्धी वार्षिक रिपोर्टों और लेखों से मिलता है। उसी समय उन्होंने 1904 की रिपोर्ट में सिंहल के खनिज-सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों और रत्नों के सम्बन्ध में एक लेख लिखा, जो भारतीय कला की पारिभाषिक शब्दावली के सम्बन्ध में उनके भविष्योन्मुखी गवेषणा का मानो प्रथम प्रयास था।

एक वैज्ञानिक का उर्वर मस्तिष्क और एक कलाकार का भावुक हृदय—इन दोनों की भूमि में राष्ट्रीय भावों का अंकुर कुमारस्वामी के मन में शीघ्र ही प्रस्फुटित हुआ। इस अंकुर का विकास एक यज्ञ के रूप में एक उच्चतर निर्मिति के लिए होता

गया। सिंहल के प्राचीन उद्योग-धंधे, कला, रहन-सहन और जीवन की सुन्दर पद्धति पर पश्चिम के प्रहार और जीवन में बढ़ती हुई कुरूपता को देखकर कुमारस्वामी अत्यन्त चिंतित हुए। मातृभाषा की शिक्षा और प्राचीन कला और शिल्प के विषय में अपने देश-वासियों की रुचि जागृत करने के लिए उन्होंने 'सीलोन सोशल रिफॉर्म सोसायटी' की स्थापना की और 1906 में अपने संपादन में 'सीलोन नेशनल रिव्यू' नामक पत्र प्रकाशित किया। शीघ्र ही सरकारी पद से त्यागपत्र देकर वे जीवन की समस्याओं के साथ आमने-सामने जूझने के लिए कार्यक्षेत्र में उतर आए। तत्पश्चात् विलायत जाकर वहाँ विलियम ब्लैक, जॉन रस्किन, विलियम मॉरिस, थॉमस कार्लाइल, चार्ल्स डिकेन्स और मैथ्यू आर्नल्ड जैसे विचारकों के साथ इस कार्य में जुट गए, जो उन्हीं की तरह इंग्लैण्ड के सामाजिक जीवन में कला के उद्धार के पक्षपाती थे। इसी समय 'मेडिवल सिंहलीज आर्ट' नामक उनका ग्रन्थ प्रकाशित हुआ, जिसमें सिंहल के प्राचीन उद्योग-धन्धों और कलाओं का स्थानीय पारिभाषिक शब्दावली के साथ विशद अध्ययन है। यूरोप की अन्य भाषाओं में भी इस प्रकार के अध्ययन बहुत कम हैं। बड़े आकार के इस ग्रन्थ में अधिकांश रेखा-चित्र स्वयं कुमारस्वामी के बनाए हुए हैं।¹

1909 में कुमारस्वामी भारतवर्ष आए वे और पहली बार उन्होंने देशव्यापी यात्रा करके यहाँ के विशाल मन्दिरों तथा कला-सामग्री को स्वयं अपनी आँखों से देखा। अपनी खोज मिट्टी के भीतर से शुरू करते हुए वे भारत के कला-शिल्प का साक्षात्कार कर रहे थे। जिस वस्तु ने पश्चिम में दीक्षित और अत्यन्त विकसित अन्तश्चेतना वाले इस व्यक्ति को आकृष्ट किया, वह वस्तु थी—भारतीय शिल्पी की साधना! जिस किसी हस्तशिल्प और उसके कौशल को उन्होंने देखा, वहीं उन्होंने पाया कि इस संस्कृति में कितनी सम्पन्नता है और इसकी तुलना में औद्योगिक संस्कृति में कितनी दरिद्रता है।² 1910 में कुमारस्वामी दूसरी बार भारत आए और भारत-भ्रमण करते हुए उनका परिचय स्वदेशी, गाँधी जी के आन्दोलन तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर और अरुणोद्भवा ठाकुर से हुआ। वे कलकत्ते में तीन सप्ताह तक विख्यात ठाकुर-परिवार के अतिथि रहे। अपनी भारत-यात्रा के दौरान कुमारस्वामी ने चित्रों और मूर्तियों का एक बहुत ही विशिष्ट संग्रह एकत्र किया, जिसे वे काशी में स्थित किसी 'राष्ट्रीय कला मन्दिर' जैसी संस्था को देना चाहते थे। तत्कालीन परिस्थितियों में ऐसा संभव न होने पर वे इस संग्रह को लेकर अमेरिका आ गए और बोस्टन के संग्रहालय में भारतीय कला का एक विशेष विभाग स्थापित कर उन्हें वहाँ सुरक्षित कर दिया। कुमारस्वामी आजीवन इस विभाग के क्यूरेटर बने रहे। समय-समय पर हिन्दू, मुस्लिम और इरानी कला की नई सामग्री जोड़कर उन्होंने इस संग्रह का न केवल विस्तार किया, वरन् अपने लेखन से उसे प्रकाशित भी करते रहे। आज बोस्टन म्यूजियम भारतीय कला का दुर्लभ तीर्थ-स्थान बना हुआ है। भारत के बाहर अन्यत्र कहीं भारतीय कला की इतनी विशिष्ट और बहुविध सामग्री एक स्थान में सुरक्षित नहीं है। कार्लाइल के शब्दों में

कुमारस्वामी ऐसे बड़भागी हैं, जिन्हें अपने जीवन में अपनी रुचि का कार्य करने को मिल गया, ऐसे व्यक्ति को फिर किसी और वरदान की चाह नहीं होनी चाहिए।³ कुमारस्वामी का बोस्टन के सरस्वती-मन्दिर में तीस वर्षों का जीवन प्राचीन भारतीय मनीषियों की तरह निरन्तर अविचल ज्ञान-साधना में व्यतीत हुआ। खाली समय में उपवन-विनोद और मत्स्य-विनोद जैसे अपनी रुचि के दो कार्यों के अतिरिक्त लौकिक जीवन की ओर से उन्होंने अपने मन को जिस स्थिति में मोड़ लिया था, उसे बौद्ध शब्दों में 'आकिंचञ्ज' अथवा कुमारस्वामी के स्वयं के शब्दों में 'Self-naughting' ही कहा जा सकता है।⁴

इस प्रकार बाहरी जीवन में अपने आप को मिटाकर उन्होंने विचारों के क्षेत्र में अपनी आत्मा को सब प्रकार से पुष्पित, फलित एवं लोक-प्रतिमण्डित बनाने का सतत् प्रयत्न किया। यूरोप, इस्लामी जगत्, भारत, चीन और जापान के प्राचीन और नवीन धार्मिक और दार्शनिक साहित्य के अवगाहन में उन्होंने अपने आप को डुबो दिया था। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, भगवद्गीता, महाभारत, रामायण, भागवत, गीतगोविन्द, कबीर, विद्यापति, बौद्ध निकाय, धम्मपद, मिलिन्द पन्ह, सद्धर्भ पुण्डरीक आदि भारतीय वाङ्मय में अपनी अन्तःदृष्टि से वे रम गए थे। इसके साथ-साथ स्कैंडिनेविया के वोल्सुंग, आइसलैण्ड के एड्डा और सागा, प्राचीन वेल्स के मेबीनीगिअन गाथा-शास्त्र, तथा प्लेटो, प्लॉटिनस, ईसाई धर्मग्रन्थ, सेंट टॉमस एक्वीनास और माइस्टर एक्हार्ट आदि के आध्यात्मिक ग्रन्थों का मनन करके पूर्व और पश्चिम के गाथा-शास्त्र, अध्यात्म-विद्या और कला-विधान की मौलिक एकता को उन्होंने पहचान लिया था। वे ज्ञान की एकता को प्रदर्शित करनेवाली भारतवर्ष की अत्यन्त प्राचीन मान्यता 'बहुधाप्यागमैभिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः' का पुनर्स्मरण करते हैं। पूर्व के ज्ञान और आध्यात्मिक अभिप्रायों की सहायता से उन्होंने मध्यकालीन ईसाई धर्म की एक अप्रतिम व्याख्या प्रस्तुत की, जिसने पश्चिम के अनेक सुधी-जनों को प्रभावित किया। वैदिक ज्ञान के विषय में वे प्राचीन सनातनी व्याख्या और अनुश्रुति का समर्थन करते हुए उसमें एक नवीन अर्थ भर देते हैं। अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में वे इस तात्त्विक एकता को और भी स्पष्ट रूप से देखने लगे थे। *Philosophia Perennis* या सनातन धर्म में अन्तर्निहित इस ज्ञान-निष्ठता को सभी सम्प्रदायों के धार्मिक ग्रंथों, सन्तों-मनीषियों के अनुभवों तथा कला और संस्कृति की अभिव्यक्ति में वे अन्तर्भूत पाते थे। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, दर्शन, भक्ति-सम्प्रदाय, पुराण और संतमत—इन सबके भीतर की एकसूत्रता को इन्होंने अपनी अन्तर्दृष्टि से पकड़ लिया था। इसी अन्तर्यामी सूत्र को ईसाई धर्म, चीनी-दर्शन, इस्लाम और सूफी दर्शन के भीतर भी वे स्पष्टता के साथ गुँथा हुआ पाते थे। इन धर्मों के मौलिक ग्रन्थों और विश्व के प्राचीनतम गाथा-शास्त्रों का उन्होंने विशद और गहन अध्ययन किया तथा खुले हृदय से वे अपने आपको इनका ऋणी मानते थे। मानवी विचार और धर्मों की इस तात्त्विक एकता का जो विवेचन

भाषा, तर्क और ज्ञान की अपरिमित शक्ति से कुमारस्वामी ने प्रस्तुत किया, उसने पूर्वी और पश्चिमी दोनों भूखण्डों में मनीषियों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया।

वैदिक स्थापनाओं को मानवीय ज्ञान और कला की मूल कुंजी मानकर कुमारस्वामी ने उनकी विलक्षण व्याख्या की है, जो प्राचीन होते हुए भी नूतन है। इस 'वैदिक मनीषा' के अवगाहन को वे अपने जीवन की सर्वाधिक मूल्यवान उपलब्धि मानते थे। लोक में उनकी कीर्ति मूर्तकला के अनन्य व्याख्याता के रूप में हुई। भारतीय कला के इतिहास और परिचय के सम्बन्ध में उनका कार्य युग-निर्माताओं के स्तर का था। कला-परायण साहित्य-साधना की जो पुण्यधारा कुमारस्वामी से चालीस वर्षों तक प्रवाहित होती रही, उसके तटों पर अनेक उपयोगी ग्रन्थों और लेखों के सुन्दर तीर्थ स्थापित हैं।⁵ कला उनके लिए मन के कुतूहल अथवा बुद्धि के व्यसन का विषय न होकर जीवन के उच्च आसन पर धर्म, अध्यात्म, दर्शन और साहित्य के सदृश ही विद्यमान है।

पंडित विद्यानिवास मिश्र अपने एक निबन्ध में आनन्द कुमारस्वामी के सम्बन्ध में उनके एक समीक्षक के हवाले से उद्धृत करते हैं कि इतनी गणितात्मक, सूत्रात्मक शैली में, इतनी परिच्छिन्न शैली में, इतनी प्रिसाइज शैली में आदमी लिखे और ऐसा लगे कि अपनी ओर से कुछ नहीं कह रहा है, जो कुछ कह रहा है कहीं न कहीं तो उसके प्रमाण मौजूद हैं—एक विस्मय है। और प्रमाण कहाँ-कहाँ से लिए हैं? *शतपथ ब्राह्मण* से, जलालुद्दीन रूमी से, मीस्टर एकार्ट से, एक्वीनास से, प्लेटो से, प्लॉटिनस से और उसके साथ ही ऐसी जातियों की लोक-वार्ता से, जिनको लोग उस समय भी केवल नृत्य के विश्लेषण का विषय मानते थे—'इनसे क्या प्राप्त हो सकता है, ये सभी पिछले अविकसित चरण के हिस्से हैं, पिछड़े हुए लोग हैं।' वहीं कुमारस्वामी ने प्रमाण खोजा और पाया कि उनमें ऐसी अन्तर्दृष्टि है, जो आज के सभ्य संसार के लिए एषणीय है, स्मृहणीय है।⁶ उनकी मौलिकता इन सबको जोड़ने में थी। वे स्वयं विश्वास करते थे कि नया कुछ नहीं दिया जा सकता है और नया देने का जो अहंकार है, वह अहंकार मनुष्य को खा जाता है। जो बड़ा कलाकार होता है, बड़ा रचनाकार होता है, वह यह संकल्प लेकर न लिखता है, न रचता है, न देता है कि वह कुछ नया दे रहा है। वह अपने को इसी रूप में अर्पित करता है कि मैं वह सूत्र हूँ, जो अनेक पूर्वविद्ध मणियों के बीच से गुजरकर नई-नई मालाएँ रचता रहता है, उससे अधिक मेरी भूमिका कुछ नहीं है।⁷

कुमारस्वामी की स्मृति उनकी जिन रचनाओं में सुरक्षित है, वे आज शायद बहुत कम लोगों के द्वारा पहचानी जाएँ, क्योंकि उनका समस्त चिन्तन जिस चीज पर चोट करता है, वह है आधुनिकता। वह चिन्तन प्रतिपादित करता है कि यह जो पश्चिमी संस्कृति का सूर्यास्त काल है, ये जो उसके हास के चरम बिन्दु हैं, उनको एक महिमा से मण्डित करके हम आधुनिककाल कह रहे हैं और उस देश-काल की उपेक्षा कर रहे

हैं जहाँ जीवन बचा हुआ है, जहाँ रोशनी बची हुई है। हम विनाश के कगार पर बैठे हुए हैं और उस रोशनी को अनदेखा कर रहे हैं। अब भी समय है कि सहज, नैसर्गिक और अनायास जो एक जीवन-पद्धति परम्परा से प्राप्त है उस पद्धति को, और उस पद्धति ने जिनसे मूल्य प्राप्त किए हैं, उन प्रथम सिद्धान्तों को, उन 'First Principles' को हम पहचानें, पश्चिम के लोग पहचानें; इस दृष्टि से न पहचानें कि पूर्व हमारी ओर झुकेगा, अपनी पहचान कराएगा, बल्कि इस दृष्टि से पहचानें कि आवश्यकता हमारी है।⁸ और, यह संकल्प उन्होंने अमेरिका में उन लोगों के बीच रहते हुए लिया, जो सारे संसार को सभ्य बनाने का अहंकार पाल रहे थे। कुमारस्वामी ने उसी अहंकार पर चोट की थी कि 'यह तुम्हारा अहंकार है कि तुम (संसार का) कल्याण कर सकते हो; यदि इसे छोड़कर तुम केवल अच्छे बने रह सको तो यह बहुत बड़ी बात होगी। कुछ अच्छा कर सकने की तुम्हारी सम्भावना चुक गई है; और अब तुमसे अपेक्षा यह नहीं की जाती कि तुम अच्छे बने रहो, यह की जाती है कि तुम क्षति न पहुँचाओ और कृपा करके अच्छा करने का कोई संकल्प न लो, क्योंकि तुम्हारा अच्छा करने का संकल्प एक झूठे दम्भ से प्रेरित होता है, व्यक्तित्व के एक स्फीत अहंकार से प्रेरित होता है। जो तुमसे अच्छा सीखेंगे वे बहुत पहले से अच्छे हैं और तुम्हारे बावजूद अभी तक अच्छे हैं।'।

कुमारस्वामी लैटिन और ग्रीक जैसी कई शास्त्रीय भाषाओं के आधिकारिक पण्डित थे। पश्चिम के विद्वान उनके पाण्डित्य के समक्ष अपने को प्रतिहत महसूस करते थे। वे मध्ययुगीन यूरोप की संस्कृति-सम्पन्नता के असाधारण व्याख्याता थे, मध्ययुगीन ईसाई सन्तों की साधना के मर्मवेत्ता थे और उस साधना में प्राचीन भारतीय चिन्तन की प्रतिच्छवि पाते थे। वे यह देखते थे कि तथाकथित पुनर्जागरणकाल से पश्चिम ने एक ऐसा मोड़ लिया, जो उसके विनाश का कारण बना, जिसकी परिणति दो विश्वयुद्धों में हुई, विमानवीकरण (Dehumanization) वाले औद्योगीकरण में हुई और उनकी मृत्यु के अनन्तर, मनुष्य के एक विशेष प्रकार के यन्त्रीकरण में हुई, जिसकी उन्होंने शायद कल्पना तक नहीं की थी। अचरज यह होता है कि कुमारस्वामी ने इस सब 'विकास' को आज से सौ वर्ष पूर्व पढ़ लिया था, देख लिया था।

कुमारस्वामी का मानना था कि परम्परागत भारतीय चिन्तन में कुछ ऐसे प्रत्यय और अवधारणाएँ हैं, जिनके प्रयोग से ही हम उस चिन्तन को ठीक प्रकार समझ सकते हैं। इसलिए यह मानकर चलना कि पश्चिम का जो अनुभव है, वह सार्वकालिक और सार्वभौम है; भ्रान्तिपूर्ण है। इसी कारण उन्होंने भारतीय राजनीतिक चिन्तन अथवा पूरी परम्परा के सैद्धान्तिक आलोक में सामाजिक संरचना, संस्कृति और सभ्यता को समझने के लिए परम्परा में ही निहित प्रत्ययों और अवधारणाओं को स्पष्ट करने का प्रयास किया। कुमारस्वामी ने सनातन दर्शन को प्राचीन सभ्यता, संस्कृति, चिन्तन, कला, सामाजिक संरचना और राजनीतिक संगठन का आधार माना है। उनकी जितनी

भी व्याख्याएँ हैं, वे मूलतः सनातन परम्परा की स्थापनाओं को स्वीकार कर प्रस्तुत की गई हैं। कुमारस्वामी दुर्लभ अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न प्रतिभा के धनी थे और उन्होंने चीनी, अरबी, यूनानी, रोमन और मध्यकालीन यूरोपीय परम्पराओं में अनुस्यूत अन्तर्दृष्टि की गहन मीमांसा प्रस्तुत की है। अपनी इसी अन्तर्प्रज्ञा के आधार पर उन्होंने आधुनिक पश्चिमी सभ्यता और उसके प्रभाव की भी गहन अन्तरालोचना प्रस्तुत की है। कुमारस्वामी के अनुसार आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता व्यक्ति के मांसल पक्ष को महत्त्व देती है। मांसलता के साथ संपृक्त हैं उसके संवेग, परिस्थितिजन्य प्रतिक्रियाएँ, ऐन्द्रिक अनुभव और राग-द्वेष। आधुनिक पश्चिमी चिन्तन के केन्द्र में इहलौकिकता प्रतिष्ठित है—यह कुमारस्वामी का मूल निष्कर्ष है। इसी निष्कर्ष के सापेक्ष उन्होंने भारतीय राजनीतिक चिन्तन की ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति, दर्शन, सामाजिक संरचना और राजनीतिक संगठन की व्याख्या सनातन दर्शन के मूल सिद्धान्तों के आलोक में प्रस्तुत की है। उनके मतानुसार भारतीय जीवन-दृष्टि इन्हीं सिद्धान्तों से अनुप्राणित है, और उसी की अभिव्यक्ति जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में परिलक्षित होती है।

इस प्रकार, आनन्द कुमारस्वामी इस बात के प्रति आग्रहशील हैं कि भारतीय चिन्तन—दार्शनिक, सामाजिक अथवा राजनीतिक—आधुनिक पश्चिमी सिद्धान्तों के आलोक में बोधगम्य नहीं हो सकता। इसीलिए आधुनिक पश्चिमी चिन्तन के सैद्धान्तिक स्वरूप, जैसे प्राकृतिक अवस्था, अनुबन्ध सिद्धान्त, राजाओं के दैवी अधिकार आदि को प्राचीन भारतीय सामाजिक-राजनीतिक सिद्धान्त को समझने के लिए लागू नहीं करना चाहिए। जिन यूरोपीय अथवा भारतीय विचारकों ने ऐसा किया है, वे प्राचीन भारतीय सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था की सम्यक् व्याख्या करने में असमर्थ रहे हैं। प्रायः उन्होंने आधुनिक पाश्चात्य सामाजिक-राजनीतिक प्रत्ययों को भारतीय सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था के बाह्य कलेवर के ऊपर अध्यारोपित कर दिया; और इस प्रकार वे भारतीय सामाजिक-राजनीतिक चिन्तन की मूल अभिप्रेरणाओं की व्याख्या करने में असमर्थ रहे। यह असमर्थता राष्ट्रवादी उपागम द्वारा प्रस्तुत भारतीय सामाजिक-राजनीतिक चिन्तन की व्याख्याओं में स्पष्टतः प्रतिबिम्बित होती है। पश्चिमी विद्वानों ने भारतीय सभ्यता, संस्कृति और चिन्तन को अविकसित माना था। उनके लिए पश्चिमी चिन्तन और उसके प्रत्यय विकसित समाज के मानक हैं। ऐसे विचारकों को चुनौती देने की दृष्टि से राष्ट्रवादी मनीषियों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि यूरोपीय सामाजिक-राजनीतिक प्रत्ययों या सिद्धान्तों का बोध प्राचीन भारतीयों को भी था और उसी दृष्टि से उन्होंने अपनी सामाजिक-राजनीतिक संस्थाएँ संरक्षित की थीं। उन्होंने चुनौती का जवाब देने की कोशिश तो की, किन्तु वे यह भूल गए कि अनजाने में उन्होंने भी यूरोपीय प्रत्ययों की श्रेष्ठता स्वीकार कर ली है। आनन्द कुमारस्वामी ने इस तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है कि प्राचीन

भारतीय सामाजिक-राजनीतिक चिन्तन वस्तुतः आध्यात्मिक और नैतिक सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति है। इस यथार्थ को न समझते हुए केवल यूरोपीय प्रत्ययों के आलोक में अपनी उपलब्धियों को व्याख्यायित करना समूची भारतीय जीवन-प्रणाली को ही प्राणहीन बना देता है। कारण कि जिन यूरोपीय प्रत्ययों को स्वीकृति प्रदान की जाती है, वे तो उन ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों की उपज हैं, जो सार्वजनिक जीवन में आध्यात्मिकता और नैतिकता का निषेध करती हैं।

इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखकर कुमारस्वामी ने परम्परानिष्ठ चिन्तन की मूलभूत अभिप्रेरणाओं को निरूपित किया है। अपनी पुस्तक *स्पीरिचुअल अथॉरिटी एण्ड टेम्पोरल पावर इन द इण्डियन थ्योरी ऑफ गवर्नमेंट* में उन्होंने सनातन दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों को निरूपित करते हुए उनके माध्यम से पारम्परिक भारतीय सामाजिक-राजनीतिक चिन्तन की तात्त्विक अभिव्यक्ति को प्रकट किया है। उनके अनुसार भारतीय पाणिग्रहण संस्कार के मंत्र में समाहित मित्र-वरुण, इन्द्र-अग्नि या इन्द्र-बृहस्पति जैसे युग्म-प्रत्यय सृष्टि, राज्य और परिवार तीनों ही स्तरों पर अनिवार्य अविच्छिन्न सम्बन्ध के द्योतक हैं। प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन में इन्हीं अर्थों में ब्रह्म और क्षत्र का सम्बन्ध निरूपित किया गया है। ब्रह्म धर्म का और क्षत्र राजसत्ता का प्रतीक है।

उल्लेखनीय है कि कुमारस्वामी ने प्राचीन भारतीय जीवन-दृष्टि के अनुसार मनुष्य के स्वरूप की भी व्याख्या की है। मनुष्य के स्वरूप के अनुरूप ही लौकिक संस्थाओं का भी विधान किया जाता है। ये संस्थाएँ मनुष्य के आत्म-विकास में सहायक और उसकी पथ-प्रदर्शक हैं। सनातन दृष्टि में मनुष्य की अवधारणा मात्र शरीर के रूप में नहीं की गई है। वह इससे इतर भी कुछ है, जो इतर है वह उसका अन्तःस्थ स्वरूप है। वह आत्म-सम्पन्न है, और उसका आत्मिक स्वरूप शारीरिकता में बाँधा नहीं जा सकता। उसका बोध सनातन संस्कृति में साधना-सुलभ माना गया है, किन्तु जिनके लिए यह सुलभ नहीं है उनके लिए आर्षवाणी और ऋषियों, सन्तों तथा योगियों की अनुभूति ही प्रमाण्य है। आध्यात्मिकता का उत्स मनुष्य की आत्मिकता है। उसके जीवन का लक्ष्य शारीरिक अथवा ऐन्द्रिक तृप्ति नहीं है, बल्कि उस सर्वोच्च ज्ञान की उपलब्धि है, जिसे आत्मबोध कहा गया है। आत्मोपलब्धि मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य है। इसे ही केन्द्र में रखकर भारतीय संस्कृति ने इस लक्ष्य के अनुरूप मूल्य-शृंखला सृजित की है। मूल्य कोई भी हो उसे बाह्य जीवन में सांकेतिक अभिव्यक्ति ही प्राप्त होती है। इसलिए संस्कृति का पूरा विधान सांकेतिक विधान है। इन संकेतों या प्रतीकों का अध्ययन भौतिक वस्तु मानकर नहीं किया जा सकता। यह विचारों और मूल्यों से सज्जित विधान है। संस्कृतियों की पहचान उनके मूल-विधान से होती है। उनके बाह्य रूप में बहुत कुछ ऐसा है, जो दूसरी संस्कृतियों के बाह्य रूपों के समान है। जीवन-यापन के लिए कृषि-कर्म, वस्तुओं को गढ़ने-बनाने के लिए औजारों का प्रयोग,

यातायात के साधन—ये सब विविध संस्कृतियों में समान दिखाई दे सकते हैं। पर जहाँ ये संस्कृतियाँ असमान हैं, वह है उनका मूल-विधान। किसी भी संस्कृति का बोध तब तक अधूरा है, जब तक हम उस मूल-विधान से परिचित न हों, जिसे मनुष्य अपने जीवन में उतारने पर कृतार्थता अनुभव करे। आत्मोपलब्धि के इस लक्ष्य का कोई साधारणीकृत वैज्ञानिक साक्ष्य नहीं हो सकता; पर वह इसलिए प्रामाणिक है कि वह योगियों, संन्यासियों और सन्तों की स्वानुभूति है। उनका साक्ष्य ही प्रमाण है। यह उन सभी लोगों के लिए भी प्रामाणिक हो सकता है, जो इस लक्ष्य के अनुरूप साधनारूढ़ हों। इसे ही आत्मानुशासन कहा गया है और इसी आत्मानुशासन की लब्धि आत्मजय और स्वराज है।

चूँकि भारत-बोध अथवा आत्मबोध का प्रश्न स्वराज और स्वदेश की अवधारणा से भी जुड़ा प्रश्न है, अतः स्वराज और स्वदेश की अवधारणा के सम्यक् अवगाहन के लिए भारतीय अथवा स्वदेशी शिक्षा-विधान के प्रश्न को भी पर्याप्त गंभीरता तथा व्याप्ति के साथ समझना होगा। किसी राष्ट्र की जीवन-दृष्टि के अनुरूप उसके नागरिकों को ढालने की विधा ही शिक्षा है—इस अर्थ में स्वाभाविक ही शिक्षा का स्वरूप राष्ट्रीय ही होगा। अतः जीवन-दृष्टि (विश्व-दृष्टि) - शिक्षा-दृष्टि - शोध-दृष्टि में एकसूत्रता और तारतम्यता अनिवार्य है। किसी राष्ट्र की जीवन-दृष्टि उसके स्वभाव के अनुसार होती है और प्रत्येक राष्ट्र का स्वभाव उसे अपने जन्म के साथ ही प्राप्त होता है। उस स्वभाव को बदला नहीं जा सकता। विपरीत परिस्थिति में वह कभी-कभी दब जाता है, परन्तु अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होते ही राष्ट्र अपने स्वभाव को पुनः प्राप्त कर लेता है। राष्ट्र का यह स्वभाव ही उसकी आत्मा होती है। राष्ट्र की आत्मा को चिति कहा गया है। राष्ट्र की चिति का अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थिति में उदय और अवपात होता है। चिति जब उदित अवस्था में होती है, तब राष्ट्र की शक्ति भी जागृत अवस्था में होती है। राष्ट्र की इस जागृत शक्ति को विराट् कहा गया है। जागृत विराट् की अवस्था में राष्ट्र समृद्ध, सुसंस्कृत, ज्ञानवान, पराक्रमी और चैतन्यमय होता है। राष्ट्र का सर्वतोमुखी अभ्युदय होता है। परन्तु चिति जब अवपात की अवस्था में होती है और विराट् भी तदनु रूप ही क्षीण अवस्था में होता है, तब राष्ट्र दारिद्र्य, असंस्कार, अज्ञान और दुर्बलता से ग्रस्त हो जाता है तथा वह अनेक सान्निपातिक संकटों से घिर जाता है।

इस सम्बन्ध से शिक्षा का प्रश्न एक संस्कृतिपरक-सभ्यतापरक प्रश्न भी है। भारत एक धर्मप्राण अधिष्ठान है—यहाँ धर्म का लोक-विग्रह ही संस्कृति और संस्कृति का लोक-विग्रह ही सभ्यता है। यह भारतीय अधिष्ठान एक विशिष्ट जिज्ञासा-केन्द्रित अधिष्ठान है। यह जिज्ञासा है—में कौन हूँ—आत्मबोध यहाँ की मूल जिज्ञासा है। आत्मबोध की प्रकृति एकात्मबोधमय है, सम्पूर्ण सृष्टि के साथ सामंजस्यमय है। यह वह केन्द्रीय विचार है, जो समग्र भारतीय जीवन-विधान के दौरान अवान्तर-कथा की

तरह विद्यमान रहता है। इसी की चाह किसी भी भारतीय उपक्रम का औचित्य तय करती है। चूँकि भारतीय अधिष्ठान एक आत्मबोध-मूलक अधिष्ठान है, अतः शिक्षा का प्रयोजन भी आत्मबोध की इस दृष्टि के अनुरूप ही मनुष्य को गढ़ने में निहित है। दूसरे शब्दों में, शिक्षा यहाँ मनुष्य को आत्मबोध के लिए सुपात्र बनाने की कला है। निश्चित ही यहाँ की शोध-दृष्टि या विद्या-साधना भी तदनुरूप ही होनी चाहिए।

भारत में विद्याएँ ब्रह्मविद्या का अंश मानी गई हैं। उनका महत्त्व ब्रह्मविद्या का अंश होने के कारण ही है। शिक्षा इसी ब्रह्मविद्या की मीमांसा है। देवता इन विद्याओं के अधिष्ठान हैं तथा शब्द या शास्त्र इनके प्रमाण हैं। वाङ्मयी सृष्टि को यहाँ भगवती सरस्वती का वाचिक विग्रह माना गया है। इसीलिए किसी व्यवस्था या विचार का धर्मसम्मत या शास्त्रसम्मत होना यहाँ की अपरिहार्यता है। चूँकि ब्रह्मविद्या का स्वरूप साधनागम्य या तप-मूलक है, अतः विद्या या शिक्षा का स्वरूप भी यहाँ साधनात्मक या तपोद्भूत ही है। ऋषि यहाँ वह तपःपुंज है, जिसने विद्या का साक्षात्कार किया है, जो विद्या का साक्षात्, सम्मुख द्रष्टा है। भारत में ऋषि-प्रणीत और शास्त्र-प्रणीत शुद्ध विद्या की मीमांसा का एक राजपथ है, जिस पर आधिकारिक गुरुओं और सुपात्र शिष्यों की स्वायत्त अथवा सम्प्रदायबद्ध परम्परा चलती रही है। इस शास्त्रीय परम्परा के प्रथम सिद्धान्त (First Principles) कर्म और पुनर्जन्म, त्रिगुणात्मकता, वर्णाश्रम, पुरुषार्थ और ऋण-त्रय के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। इस प्रथम सिद्धान्त-युक्त शास्त्रीय परम्परा के आलोक में जीवन्त लोक-परम्परा के उपमार्ग भी सदा से भारत में विद्यमान रहे हैं।

पं. विद्यानिवास मिश्र के अनुसार, भारतीय सनातन परम्परा के विशिष्ट अभिलक्षणों में एक यह भी है कि यह वाक्केन्द्रित परम्परा है। वाक्केन्द्रित कहने का तात्पर्य केवल यह नहीं है कि यह मुख्यतः वाचिक है; अंशतः यह बात सही है कि पीढ़ी दर पीढ़ी माता-पिता से संतान को या गुरु से शिष्य को सौंपी जानेवाली थाती परम्परा कहलाती है, पर यह सौंपना और यह ग्रहण करना निर्जीव व्यापार नहीं है, सौंपनेवाले को सौंपने की क्षमता प्राप्त करनी होती है, ग्रहण करनेवाले को ग्रहण करने की। ऐसा करने के लिए एक विशेष प्रकार की निःस्पृहता, एक विशेष प्रकार का तप दोनों के लिए समान रूप से अपेक्षित है। यही यहाँ का लोक-परिष्कार है, जिसमें केवल वाक्य नहीं सौंपे जाते, वाक्यार्थ को ग्रहण करनेवाला ध्यान-योग और समर्पण-भाव भी सौंपा जाता है। भारतीय परम्परा में नियम, विधि और भाव का महत्त्व इनकी प्रस्तुति के माध्यम में ही निहित है। भारतीय परम्परा को वाक्केन्द्रित कहने के पीछे एक दूसरा अर्थ भी है। भारत में संस्थाबद्धता को न्यूनतम महत्त्व मिला है, चाहे वह संस्था धर्म-संस्था हो, राज्य-संस्था हो, अथवा समाज-संस्था हो। स्वामी करपात्रीजी के अनुसार किसी भी धर्माचार्य या किसी भी शासक या किसी भी समुदाय-नायक का महत्त्व बस इतनी ही दूर तक है कि वह परम्परा की स्मृति को सुरक्षित रखने में कितना तत्पर है। अन्तिम

प्रमाण यहाँ वाक् है, तपःपूत सर्वमय हुए द्रष्टा की वाणी। दूसरे शब्दों में इसे ही मंत्र कहा गया है, जो बाह्याभ्यन्तर सम्पूर्ण सत्ता का बौद्धिक अमूर्तीकरण है। यह अमूर्तन ही भारतीय परम्परा में शक्ति के केन्द्रीकरण को अनवरत रोकता रहा है और संस्थाओं के अनाचारों का प्रतिरोध करने की शक्ति देता रहा है। इसी के कारण इस परम्परा में एक लचीलापन बना रहता है और जड़ता नहीं आने पाती। वेद, पुराण, आगम, अवदान, चरित, मंगल, पद आदि संस्कृत एवं लोक-वाङ्मय की नाना प्रकार की अभिव्यक्तियों के माध्यम से तथा समस्त वाक्-परम्परा के अनुभवपरक समाकलन के द्वारा इस परम्परा की गतिशीलता बनी रहती है। साथ ही उस परम्परा के वाहक इसके प्रवाह में आत्मसात् होते रहते हैं, उनका कोई निजी इतिहास नहीं बनता। इसीलिए यहाँ पाणिनि का अर्थ होता है—पाणिनीय भाषा-चिन्तन-परम्परा, व्यास का अर्थ होता है—वेदार्थ के उप-बृंहण की ओर लोक में उसके प्रसरण की लम्बी परम्परा, शंकराचार्य का अर्थ होता है—शंकराचार्य की शृंखला, देश के चारों कोनों में अद्वैत-भाव की साधना के जागरूक प्रहरियों की शृंखला, गुरु नानक का अर्थ हो जाता है—गुरु-परम्परा, तुलसी का अर्थ हो जाता है—रामलीला की, रामकथा की अविच्छिन्न धारा। व्यक्ति के रूप में इन सबका कोई महत्त्व नहीं रह जाता। ऐतिहासिकता के आधुनिक आग्रह ने इन सबके व्यक्तिगत जीवन को अलग देखने की कोशिश शुरू की, पर उनकी खोजों से कुछ सूचनात्मक ज्ञान की वृद्धि भले हुई हो, परम्परा की सक्रियता को समझने में इन खोजों से कोई विशेष सहायता नहीं मिली है, कभी-कभी तो इन खोजों ने बुद्धि-विभ्रम भी पैदा किया है। आधुनिक इतिहासकार यह भूल जाते हैं कि भारतीय परम्परा में इतिहास अनन्त की लोकयात्रा है। इसीलिए यहाँ शास्त्रविधि जाननेवाले व्यक्ति को लोकविधि का भी ध्यान रखना पड़ता है। यह विधि इतनी समावेशक और इतनी संश्लिष्ट है कि इसे ठीक-ठीक परिभाषित करना संभव नहीं है। इसका आदि-स्रोत ढूँढ़ना इसीलिए बड़ा कठिन है। बहुत से लोकाचार, लोकानुष्ठान और उनके अंगभूत लोकगीत और लोकाख्यान कहीं-कहीं तो वैदिक मन्त्रों की गूँज जान पड़ते हैं, कहीं-कहीं बहुत से तान्त्रिक अनुष्ठानों की प्रतिध्वनि वहाँ मिलती है। कौन पहले है, कौन बाद में—यह निर्णय करना कठिन है, परन्तु इस निर्णय की अपेक्षा ही नहीं रखती परम्परा; परम्परा तो संश्लिष्ट है, वह जिस बिन्दु पर है, उस बिन्दु पर सम्पूर्ण है, उसमें कितना प्रतिशत वैदिक है, कितना तान्त्रिक, कितना जनजातीय, यह विश्लेषण अनावश्यक है। इस प्रकरण का उपसंहार करते हुए विद्यानिवासजी कहते हैं कि भारतीय सनातन परम्परा में जीवन की अखण्डता और निरन्तरता, देशकाल के प्रति सजग रहते हुए भी इसके अतिक्रमण के लिए प्रयत्नशीलता तथा शास्त्र का लोकापेक्षी और लोक का शास्त्र-भावित होना विद्यमान है।⁹

लोक-जीवन के इन उपमार्गों या पगडण्डियों को ही आनन्द कुमारस्वामी 'sideway to eternity' कहते हैं। जीवन-दृष्टि, शास्त्र और लोक-परम्परा तीनों एक

साथ प्रतिष्ठित या अप्रतिष्ठित होते हैं। वर्तमान सन्दर्भ में शिक्षा की भारतीय दृष्टि नहीं, जीवन की भारतीय दृष्टि के प्रति ही हमारा आग्रह/अनुराग नहीं रहा, इसीलिए शास्त्र, शिक्षा, समाज, अर्थ, राज्य—किसी की भी भारतीय दृष्टि के प्रति हमारा आग्रह/अनुराग नहीं रहा। जीवन-दृष्टि, शास्त्र, शिक्षा, समाज, अर्थ और राजनीति सभी की स्वभावजन्य और समानधर्मा तासीर हो, तभी इनकी सोद्देश्यता और सार्थकता यथेष्ट है, अन्यथा ये घोर विसंगति का कारण बन जाते हैं। इनके स्वरूप के सम्बन्ध में सामान्य सहमति का प्रश्न यदि हल कर लिया जाए तो इनमें से किसी से भी परहेज करने की आवश्यकता नहीं रह जाती, वरन् उनमें सामंजस्य और उनका साहचर्य राष्ट्र के अभ्युदय का हेतु सिद्ध होता है। विदित हो कि शास्त्र या धर्म के प्रकाश से प्रकाशित/आलोकित जन को ही यहाँ 'लोक' कहा गया है। समाज, अर्थ और राज्य की सम्पूर्ण व्यवस्था इसी शास्त्रानुशासन और जन-आलोकन का माध्यम है। दूसरे शब्दों में, शुद्ध विद्याओं का साधना-परिवेश भी तदनु रूप ही परिष्कृत होना चाहिए। अपरिष्कृत संस्थाओं में अथवा विजातीय परिवेश में शुद्ध विद्याओं की साधना नहीं हो सकती।

यही कारण है कि जहाँ एक ओर देश की राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए आन्दोलन चल रहा था, वहीं दूसरी ओर देश के सांस्कृतिक भविष्य को लेकर भी सुधीजन चिंतित थे। लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी, स्वामी विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, श्रीअरविन्द, आनन्द कुमारस्वामी और ब्रदीशाह जैसी विभूतियाँ देश की सांस्कृतिक पुनर्जागृति को शिक्षा के माध्यम से सुनिश्चित करना चाहती थीं। स्वतन्त्रता के उपरान्त भी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और इसके विभिन्न आनुषंगिक संगठन, रामकृष्ण मिशन, चिन्मय मिशन, गायत्री परिवार, स्वाध्याय परिवार, महर्षि महेश योगी, कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन इत्यादि संस्थाओं द्वारा भी देश के अन्दर और बाहर शिक्षा और संस्कार की गतिविधियाँ व्यापक पैमाने पर चल रही हैं। जहाँ तक संस्कार-शिक्षा का प्रश्न है, प्रत्यक्ष और परोक्ष अर्थात् मीडिया के माध्यम से देश भर में बड़े पैमाने पर कथा-उपदेश के प्रकल्प भी चल रहे हैं।

किन्तु दुर्भाग्य यह है कि या तो ये प्रकल्प शासकीय अनुदान और नियंत्रण के जाल में जकड़कर अपनी आत्मा खो चुके हैं, और शिक्षा की भारतीय दृष्टि का प्रश्न विश्वविद्यालयों के शिक्षाशास्त्र विभागों के पाठ्यक्रम में भारतीय शिक्षा की पुनर्प्रतिष्ठा का एक इतिवृत्त बन चुका है, जिसे प्राणवान अंगी होना चाहिए था वह निष्प्राण अंग बनकर रह गया है; वहीं अन्य प्रकल्पों के उद्देश्य मोटे तौर पर प्रशस्त होते हुए भी या तो कालबाह्य बने हुए हैं या फिर भारतीय और आधुनिक पाश्चात्य जीवन-दृष्टि और जीवन-विधान के मध्य असंभाव्य 'समन्वय' की आशा करते-करते ये संस्थान और प्रकल्प आधुनिक पाश्चात्य नमूनों की दुर्बल अनुकृति बनकर रह गए हैं। सर्वाधिक दयनीय और निराशाजनक स्थिति तो उस प्रकल्प की है जो शासन द्वारा अधिकृत,

मान्यताप्राप्त और अखिल भारतीय व्याप्ति वाला है। प्राथमिक, माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा के अविवेकपूर्ण और असम्बद्ध खाँचों में बँटे इस महाप्रकल्प का खण्ड-खण्ड पाखण्ड अब किसी भी सुधी व्यक्ति से छिपा नहीं है। इस सरकारी शिक्षा-प्रणाली में जो विषय, जिस स्तर पर और जिस रूप में पढ़ाए जा रहे हैं, उनका हमारे स्वाभाविक जीवन-विधान के साथ कोई तारतम्य नहीं रहा। धीरे-धीरे सब कुछ अस्त-व्यस्त और निरर्थक होता जा रहा है। इधर शिक्षा में प्रत्येक स्तर पर यात्रिकता के द्वारा मानवीय तत्त्व को प्रतिस्थापित करने का उद्यम जोर-शोर से साधा जा रहा है और उधर ऐसी निर्जीव होती जा रही 'शिक्षा' से अधिक से अधिक लोगों को जोड़ने का एक महाअभियान भी चल रहा है। जिस सभ्यता की लाक्षणिकता ही शिक्षा और संस्कृति पर आधारित हो उसके इतिहास में ऐसे दुर्दिन कभी नहीं आए कि 'आम आदमी' से पूछ-पूछकर उसके अधिष्ठान राष्ट्र की शिक्षानीति तय की जाए। किसी राष्ट्र के अन्दर बार-बार शिक्षानीति का प्रश्न उठना वैसे भी एक गंभीर आध्यात्मिक संकट और बौद्धिक दृष्टिहीनता की स्थिति का संकेतक है। यही कारण है कि जैसे-जैसे इलाज जटिल होता जा रहा है, वैसे-वैसे मर्ज भी सान्निपातिक होता जा रहा है। आधुनिक शिक्षा का विस्तार उसी अनुपात में विसंगतियाँ और उलझनें भी बढ़ाता जा रहा है। किन्तु दिक्कत यह है कि यह जो सर्वाधिक मान्यताप्राप्त, व्यापक और अधिकृत मुख्यधारा है, वह भारतीय नहीं है और जो भारतीय है, वह अधिकृत नहीं है, तथा उसका आधुनिक जीवन-विन्यास के साथ कोई तारतम्य नहीं है।

आधुनिक विश्वविद्यालयों में पढ़ाए जानेवाले विषयों की स्वरूप-मीमांसा करके इस प्रकरण को भी समझा जा सकता है। भारतीय विश्वविद्यालयों में पढ़ाए जानेवाले विज्ञान-विषयों की अभारतीयता का आलम यह है कि इनकी प्रयोगशालाओं में विद्यार्थियों को उन्हीं प्रयोगों और उपकरणों के संचालन की प्रविधि सिखाई जाती है, जिनके माध्यम से वे आधुनिक पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान को आधुनिक पश्चिमी साम्राज्यवाद के एक सशक्त उपकरण के रूप में पुष्ट कर सकें। पश्चिमी विलासिता की फूहड़ नकल करने और करानेवाले इस विज्ञान से किस बौद्धिक-नैतिक-आध्यात्मिक दायित्व की आशा की जा सकती है?¹⁰ स्थिति तो यह है कि तत्त्व-विमर्श और ज्ञान-मीमांसा के स्तर पर अत्यन्त कमजोर आधुनिक विज्ञान की पद्धति को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर आरोपित कर दिया गया है। सामाजिक विज्ञानों का आविर्भाव भी इसी 'scientific temper' की देन है। प्रोफेसर ए.के. सरन तो स्पष्ट रूप से यह मानते हैं कि यदि औद्योगिक क्रान्ति न हुई होती तो समाजशास्त्र, और यदि साम्राज्यवाद की व्याप्ति न हुई होती तो मानव-विज्ञान (Anthropology) जैसे विषयों का अस्तित्व ही न होता। इस प्रकार, विज्ञान के क्षेत्र में हमने पश्चिम का अनुगामी बनने से अधिक कुछ हासिल नहीं किया है और इस अनुगमन के लिए हम अपनी तथाकथित वैज्ञानिक मेधा को पश्चिम के यंत्र-बाजार में अनवरत रूप से विनिवेशित करते जा रहे हैं। दूसरी ओर

साहित्य, कलाओं, मानविकी और समाज-विज्ञानों में भी हमारी स्थिति भिन्न नहीं है। राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र के क्षेत्र में हमारी शिक्षा का गोपनीय प्रयोजन उदारवादी-पूँजीवादी-साम्राज्यवादी 'जीवन-मूल्यों' के प्रति अपनी पीढ़ी को नम्र और सह्य बनाना है। कुछ ऐसी स्थिति बना दी गई है कि जैसे आधुनिक जनतान्त्रिक तरीकों के अतिरिक्त किसी मनुष्य, नायक, गुण या विचार की सामाजिक स्वीकृति का कोई औचित्यपूर्ण आधार हो ही नहीं सकता। एक प्रकार से यह अपनी सुदीर्घ परम्परा के प्रति विद्रोह और तिरस्कार का भाव उत्पन्न करने का अभियान है। आज साहित्य और कलाओं में अतिशय लौकिकता और प्रयोगधर्मिता के नाम पर जिस प्रकार उच्छृंखलता बढ़ रही है, वह इसी मनोवृत्ति का परिणाम है। आधुनिक अर्थशास्त्र के सभी मानक आधुनिक जीवन-दृष्टि के प्रति अपेक्षित इसी नम्रता और सहनशीलता का आकलन करने की प्रणाली के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं; और इसी अर्थशास्त्र की विफलता से उत्पन्न समाज की छिन्न-भिन्नता को व्यवस्थित करने के असफल उद्यम के रूप में आधुनिक विधिशास्त्र और प्रबन्धन-शास्त्र को हम आज भ्रमवश प्रतिष्ठा दे रहे हैं। मानव-विज्ञान और आधुनिक मनोविज्ञान तो स्पष्ट रूप में साम्राज्यवादी विज्ञान हैं, जिनकी स्वीकृति का अर्थ साम्राज्यवादी शक्तियों के प्रभुत्व और तर्क को स्वीकार करना है। यह अवलोकनीय है कि मानव-विज्ञान की समस्त विषय-वस्तु एशिया, अफ्रीका और ऑस्ट्रेलिया की मनुष्य-जातियों के अध्ययन पर केन्द्रित है, यूरोप की कोई एन्थ्रोपॉलॉजी आज तक विकसित क्यों नहीं हो पाई? एन्थ्रोपॉलॉजी के अध्ययन में यह अन्तर्निहित है कि यूरोप का मनुष्य ही मानक मनुष्य है और शेष मनुष्य की तरह दिखनेवाले वे प्राणी (Anthropodes: Anthro =k man, po =k like) हैं जिन्हें यथासंभव मानक मनुष्य बनाना यूरोप का 'Civilizing Mission' है। इसी आधार पर यूरोपीय लोगों ने आस्ट्रेलिया की मूल जनजाति को मनुष्य न मानते हुए, आस्ट्रेलिया को मानव-रहित भूमि (Virgin Land) घोषित करके उस पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। आधुनिक मनोविज्ञान तो हमें इन प्रश्नों पर विचार करने की योग्यता और स्वतंत्रता भी अनुमोदित नहीं करता। इसी प्रकार, भारतीय परम्परा में इतिहास का अभिप्राय सनातन की लोकयात्रा को प्रतिध्वनित करना है। इतिहास के अध्ययन का महत्त्व अपने सनातन आदर्शों से उपयुक्त संकेत प्राप्त करने में निहित है। इस महत् उद्देश्य को विस्मृत करके इतिहास को क्षुद्र राजनीतिक मन्तव्यों को सिद्ध-असिद्ध करने का अखाड़ा बना दिया गया है। सबॉल्टर्न अध्ययन और डि-कॉलोनाइजेशन की आवाजें तो भारतीय अकादमिक फलक पर उठीं, किन्तु आधुनिक पश्चिम के बौद्धिक घेरे से वे भी मुक्त नहीं हो पाईं। निष्कर्ष यह है कि न तो हम अपने सनातन सन्दर्भों से परिचित रहे और न हमारा काल-बोध ही अक्षुण्ण रहा। ऐसे में शिक्षक बनाने का भारतीय उद्यम जिस शिक्षाशास्त्र के सहारे चलाया जा रहा है, वह पश्चिम में भी निरस्त कर दिया गया है। पश्चिम की उन घटिया

तकनीकों/यंत्रों के संकलन/प्रशिक्षण से अधिक यह कुछ नहीं है। कुल मिलाकर ऐसा प्रतीत होता है कि हम एक अनजान वीथिका में भटकते रहने को अपनी नियति मान चुके हैं।¹¹

दुर्भाग्य से आज ज्ञान और शिक्षा के केन्द्र विश्वविद्यालय या तो आचार-भ्रष्टता के केन्द्र बने हुए हैं अथवा अपने मुख्य दायित्व को विस्मृत कर वे राजनीतिक अखाड़े बने हुए हैं। परम्परागत दृष्टि में विश्वविद्यालय को विश्व-विद्या अर्थात् उच्चतर-सनातन-शाश्वत सत्य का मीमांसा-स्थल माना गया है। ब्रह्म-जिज्ञासा (Theology: Queen of Sciences) इसके केन्द्र में और शेष विषय परिधि पर हैं। इस दृष्टि से प्राथमिक-माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा के मध्य एक स्वाभाविक सामंजस्य और सातत्य की अपेक्षा की गई है, केवल शैली की भिन्नता होगी। उच्चतर शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षक और शिक्षार्थी सत्य के मित्रवत अन्वेषक होते हैं, सहपथिक होते हैं। इसलिए शिक्षा का प्रश्न एक सर्वांगपूर्ण प्रश्न है। यह अधिष्ठान, प्रक्रिया और व्यवस्था—तीनों से जुड़ा प्रश्न है। गाँधीजी ने इसी अर्थ में शिक्षा को दिल (Heart), दिमाग (Head) और हाथ (Hand) का परिष्कार कहा है। हाथ के माध्यम से यह कौशल का, दिल के माध्यम से भाव का और दिमाग के माध्यम से बुद्धि का परिष्कार करती है। यही कारण है कि इहलौकिकता के प्रति अति आग्रहपूर्ण और किसी उच्चतर सत्य के प्रति तिरस्कार से युक्त जिस यूरोपीय पुनर्जागरण (Unmediated/self-mediated knowledge system) का प्रभाव तत्कालीन भारत की जीवन-दृष्टि पर पड़ा, उसने हमारी जीवन-दृष्टि को भी तदनुरूप ही सीमित, खण्डित और संशयात्मक बना दिया; तथा इसी प्रकार का सीमित, खण्डित और संशयग्रस्त हमारा समाज, अर्थ और राज्य-विधान हो गया। 'Trial and Error' की अनन्त संशोधनीयता (Indefinite Corrigibility) की इस आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि का प्रभाव सर्वत्र हमारे शिक्षा-अधिष्ठान, प्रणाली और व्यवस्था पर भी पड़ा। हमारे हाथों में स्वाभाविक कौशल नहीं रहा, हमारा हृदय भावशून्य और हमारी बुद्धि भ्रमित होती जा रही है। भारत में ज्ञान, ज्ञानी और संसाधन की कमी नहीं है; बल्कि ज्ञान और ज्ञानी प्रतिष्ठित नहीं हैं और संसाधन भ्रमित, भ्रष्ट या कमजोर लोगों के हाथों में है। हमने निःस्वार्थी, तेजस्वी और योग्य लोगों को समाज के शीर्ष पदों पर प्रतिष्ठित करने की व्यवस्था तोड़ दी है। शिक्षा का जिस प्रकार का संस्थानीकरण हो चुका है, उससे वह प्रकटतः शासन और प्रच्छन्नतः राजनीतिक दलों के नियंत्रण में आ गई है। अब तो इन्हें औद्योगिक घराने नियंत्रित करने लगे हैं। आचार्य की स्वायत्तता समाप्तप्राय है। यह आत्मगौरवहीनता और पाखण्ड की स्थिति है, जिसे समझते हुए भी शिक्षा में मूल्यों की बात करना अपराध-सदृश है। अपराधी और पाखण्डी किसी व्यवस्था में न तो मूल्य-सृजन कर सकते हैं, न ही मूल्य धारित। इसीलिए हमारी युवापीढ़ी 'not at home anywhere, out of place everywhere' वाली स्थिति में भटक रही है। 'पुनर्जागरणकाल' की

दुविधा अभी तक हमारा पीछा नहीं छोड़ रही है। सनातन और सांपेक्ष का हमारा अनुपात बिगड़ गया है। स्मरण और विस्मरण करने योग्य विचारों और व्यक्तियों के मध्य अन्तर करने में हमारा विवेक कमजोर पड़ गया है। हमारी प्रतिबद्धताएँ धूमिल पड़ गई हैं और जीवन की इस आपाधापी में अपनी प्रतिबद्धताओं की कीमत लगाते हमें देर नहीं लगती। परिवार, शिक्षा, समाज, राजनीति, कृषि, पशुपालन, वानिकी और उद्योगों में जिस आपाधापी से हम फैसले लेते और बदलते हैं, वह अपनी प्रतिबद्धताओं के लिए जाने जानेवाले समाज का लक्षण तो नहीं है। अपनी कमजोर प्रतिबद्धताओं के कारण ही हमारे सार्थक प्रयास भी फलीभूत नहीं हो रहे। अपनी पाठ्यचर्या में महापुरुषों की कथाओं और नैतिक-शिक्षा को भी सम्मिलित करने का कोई प्रभाव इसीलिए नहीं दिखाई पड़ता। वस्तुतः बुनियादी तौर पर ही हम प्रमादग्रस्त हो चुके हैं। हमारा खान-पान, रहन-सहन, बोली-बानी सब कुछ प्रमादग्रस्त हो चला है। युवक और युवतियाँ अच्छे माता-पिता तो बनना जैसे भूल ही गए हैं और एक-दूसरे की तरह विपरीतधर्मी दिखना-बनना उनका स्वभाव बनता जा रहा है। ऐसे युवक-युवतियाँ निःसंतति, अल्पसंतति या अक्षमसंतति के कारण बन रहे हैं। ऐसे बच्चे जन्म ले रहे हैं, जो शारीरिक रूप से तो कमजोर हैं ही, मानसिक रूप से भी उनमें असहिष्णुता, अनास्था, भय, तनाव और उत्तेजना के लक्षण दिखाई देने लगे हैं।

भारत के सन्दर्भ में कुमारस्वामी की महत्ता इस बात में है कि वे केवल भारत की क्षमता ही नहीं देखते थे, वे भारत की दुर्दशा से भी अन्दर तक आहत थे। उन्होंने अपने निबन्ध 'East and West' में स्पष्ट रूप से कहा है कि 'भारत ही विश्व में सबसे करुण दृश्य दिखा सकता है। इतना जीवन्त और भव्य संगठन, जो मध्य यूरोप के समान है, बल्कि उससे भी कुछ अधिक पूर्ण है, और इतने अपरिमेय कोष के उत्तराधिकार के बावजूद इतना दरिद्र और ऐसा विनाशोन्मुख—इससे अधिक करुण और क्या होगा।'

अपनी बात को और स्पष्ट करते हुए वे आगे कहते हैं कि हिन्दुस्तान की दरिद्रता इसमें नहीं है कि वह आर्थिक दृष्टि से विपन्न है, इसमें है कि वह जिसे विपन्नता मानता है, वह उसकी बड़ी विपन्नता नहीं है; जिसको सम्पन्नता मानना चाहता है, जिसको अपनी सम्पन्नता का पैमाना मानता है, जिसके कारण वह दिखावटी प्रगति की लालसा का शिकार हो चुका है वही उसकी वास्तविक दरिद्रता है। और जो सम्पन्नता उसके पास है, जो आत्मविश्वास है, जो आत्मप्रत्यभिज्ञान उसके पास है, उसकी वह उपेक्षा कर रहा है। इतनी बड़ी वैचारिक अस्तित्व-समृद्धि के बावजूद, यह उपेक्षा ही उसकी वास्तविक दरिद्रता है और यही हिन्दुस्तान की सबसे बड़ी ट्रेजेडी है, यही उसकी करुणान्त गाथा है।

1909 में प्रकाशित अपनी पुस्तक *Essays in National Idealism* में कुमारस्वामी ने भारतीय सांस्कृतिक समृद्धि, तत्कालीन दुर्दशा और भविष्य-दृष्टि की विस्तार से

चर्चा की है। उन्होंने शिक्षा के प्रश्न को ही सर्वाधिक निर्णायक और केन्द्रीय प्रश्न माना है। उनका मानना है कि भारत में ब्रिटिश शासन की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह रही कि भारतवासियों को पहुँचाए गए सबसे बड़े नुकसान को वरदान की दृष्टि से देखा जाने लगा।¹²

सौ वर्षों से अधिक पहले का कुमारस्वामी का यह आकलन आज भी शत-प्रतिशत खरा उतरता है। विश्व के समानधर्मा संस्थानों की प्रथम पंक्ति में आने की होड़ में लगे भारतीय विश्वविद्यालयों, तकनीकी संस्थानों, प्रबन्धन संस्थानों और नाना प्रकार की नई-नई उपाधियाँ देनेवाले चमकते-दमकते संस्थानों से निकलनेवाले युवकों-युवतियों का मानसिक धरातल आज भी यही बना हुआ है। जिस प्रकार से उनकी और उनसे छनकर उनसे नीचे के युवा-वर्ग की अभिरुचियाँ विरूपित हो रही हैं, वह इस अवनति का और भी आक्रामक संकेत है। स्वजातीय अभिरुचियों का विघटन और ऊपर से बढ़ता अहंकार उनकी 'घर-वापसी' की संभावना को भी दिन-प्रतिदिन क्षीण करता जा रहा है।¹³

कुमारस्वामी ने परम्परागत भारतीय शिक्षा-प्रणाली द्वारा संरक्षित-पोषित-सम्बर्द्धित उन अनेक प्रवृत्तियों की गणना की है, जिनको ब्रिटिश शिक्षा-प्रणाली ने विरूपित कर दिया। इन प्रवृत्तियों में भारतीयों की जीवन एवं जगत के बारे में सहज दार्शनिक समझ, धार्मिक और लौकिक के मध्य अभेद की दृष्टि और पवित्रता का भाव, विभिन्न धार्मिक परम्पराओं में अन्तर्भूत तात्त्विक एकता की स्वीकृति, आचरण के अनवरत परिष्कार का यत्न, आत्मिक नियन्त्रण की साधना, और गुरु-शिष्य-परम्परा की प्राण-प्रण से रक्षा का भाव-जैसी प्रवृत्तियाँ सम्मिलित हैं। अपनी विखण्डित दृष्टि के कारण ब्रिटिश शिक्षा-प्रणाली ने इन प्रवृत्तियों को गंभीर नुकसान पहुँचाया।¹⁴

ऐसी स्थिति में भी कुमारस्वामी का यह अडिग विश्वास है कि स्वयं भारतीय ही इस दुर्दशा से निबट सकने में समर्थ हैं। आवश्यकता केवल इस बात की है कि वे अपनी सांस्कृतिक प्रतिबद्धताओं का विस्मरण न करें।¹⁵ आधुनिकतावादियों के विपरीत कुमारस्वामी भारतीयों के चरित्र-निर्माण में पुराणों और महाकाव्यों की भूमिका को दृढ़ता के साथ रेखांकित करते हैं।¹⁶ इसी क्रम में भारतीय शिक्षा-पद्धति में स्मृति के महत्त्व को भी रेखांकित करते हैं।¹⁷ कुमारस्वामी बड़ी बेबाकी से भारत में स्त्री-शिक्षा के बदलते स्वरूप की भी समीक्षा करते हैं। स्त्रियों की शिक्षा के विषय में उनका मानना है कि इसका स्वरूप सीखने से अधिक संस्कारपरक था जिसकी आवश्यकता एक सम्यक् सामाजिक आदर्श को बनाए रखने के लिए थी।¹⁸ कुमारस्वामी की शिक्षा-दृष्टि एक समग्र दृष्टि है। वे तत्त्वशास्त्र, धर्म, दर्शन, कला, संस्कृति, संगीत, साहित्य, समाज-विधान, कृषि, कौशल, वाणिज्य-व्यापार, परिवार, राष्ट्रीयता, स्वदेशी आदि सभी विषयों का समावेश अपनी शिक्षा-दृष्टि में करते हैं। इसीलिए वे कालवशात्

इन सभी विषयों में आए विपर्यय के परिष्कार के लिए भी शिक्षा को ही मूल आधार मानते हैं।¹⁹

यह ठीक है कि हमारे सामने एक 'राष्ट्रीय' शिक्षा-पद्धति और व्यवस्था को पुनर्निर्मित-पुनर्प्रतिष्ठित करने की चुनौती है, किन्तु इसकी पूर्वशर्त यह है कि इसके लिए हम कुमारस्वामी सदृश मनीषियों से संकेत प्राप्त कर सकने में सक्षम-सक्रिय हों।²⁰ अपने 'भारत-बोध' अथवा 'आत्म-बोध' के भाव से पुनर्तृप्त होने की भी यही अनिवार्य और स्थायी शर्त है।

सन्दर्भ

- विद्यानिवास मिश्र : *भारतीयता की पहचान*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृ. 9.
- वासुदेव शरण अग्रवाल : *कला और संस्कृति*, साहित्य भवन प्रा. लि., इलाहाबाद, 2005, पृ. 213.
- Blessed is he who has found his work; let him ask for no other blessedness.- Carlyle.
- वासुदेव शरण अग्रवाल : *पूर्वोक्त*, पृ. 214.
- तदैव* : पृ. 215.
- एक उदाहरण को पंडित विद्यानिवास मिश्र ने कुमारस्वामी के ही हवाले से कुछ इस प्रकार प्रस्तुत किया है : "कश्मीर की बर्फीली पहाड़ियों में घूमते समय मुझे एक बूढ़ा गड़रिया मिला, वह हाफिज का दीवान गाता जा रहा था, मैं उसके पास गया, पूछा क्या गा रहे हो, उसने कहा हाफिज का दीवान, मैंने पूछा तुम्हें सब याद है, उसने कहा हाँ, जहाँ से कहें सुना दूँ, मैंने पूछा कहाँ पढ़ा, किससे पढ़ा, यहाँ तो फारसी बोली नहीं जाती, उसने कहा, मेरे लिए काला अक्षर भैंस बराबर, मैंने पीरों से सुना, मुझे अच्छा लगा, बार-बार दुहराया, याद हो गया और अब इन बर्फीली पहाड़ियों में भेड़-बकरियों के ढोर लिए घूमता हूँ तो मुझे सब पहाड़ियाँ, ढोर, हवा सब हाफिज ही को गुनगुनाते हुए सुनाई पड़ते हैं। फिर उससे अर्थ पूछा और उसने अर्थ की पर्त-दर-पर्त उतारनी शुरू की और मैं चकित रह गया। मैं पूछता हूँ एक निरक्षर जिस परम्परा के कारण इतना शिक्षित हो सकता है और ऐसी कठिन जिन्दगी इतनी रसमय हो सकती है, वह अच्छी या वह साक्षरता जो मनुष्य को वंचित कर देती है हजार-हजार गँजों से जो ऐसी वीरान पहाड़ियों में बसी हुई है।" (विद्यानिवास मिश्र : *पूर्वोक्त*, पृ. 132-133)
- विद्यानिवास मिश्र : *पूर्वोक्त*, पृ. 10-11.
- इसी तथ्य को रेने गेनो भी व्यक्त करते हैं : देखें, रेने गेनो : *इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ द हिन्दू डॉक्ट्रिन्स*, मुन्शीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स प्रा. लि., नई दिल्ली, 1993 (मूल प्रकाशन 1945), पृ. 325.

- विद्यानिवास मिश्र : *पूर्वोक्त*, पृ. 30-52.
- देखें, ए.के.सरन : 'यूनिवर्सलिज्म : टू एण्ड फाल्स', आर.सी. तिवारी तथा कृष्णनाथ (सं.): *यूनिवर्सल रिसर्चिन्सबिलिटी*, ए 'एन' वी पब्लिशर्स प्रा. लि., नई दिल्ली, 1996, पृ. 35-40; रेने गेनो : *ईस्ट एण्ड वेस्ट*, लुजाक एण्ड कं., लंदन, 1941, पृ. 57-59; ए.के. कुमारस्वामी : *कुमारस्वामी-2 : सेलेक्टेड पेपर्स : मेटाफिज़िक्स*, सं. रोजर लिप्से, बोलिंगेन सिरीज़, LXXXIX, प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन, 1977, पृ. 423; तथा ए.के. सरन : 'गाँधी एण्ड द कॉन्सेप्ट ऑफ पॉलिटिक्स : टूवर्ड्स ए नॉर्मल सिविलाइजेशन', *गाँधी मार्ग*, गाँधी पीस फाउण्डेशन, नई दिल्ली, फरवरी 1980, पृ. 707-708.
- डब्ल्यू.एम. अर्वन : *द इन्टेलीजिबल वर्ल्ड*, 1929, पृ. 172.
- ए. के. कुमारस्वामी : *एसेज इन नेशनल आइडियलिज्म*, मुन्शीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स प्रा. लि., नई दिल्ली, 1981 (मूल प्रकाशन 1909), पृ. 96-97.
- तदैव* : पृ. 98.
- तदैव* : पृ. 104-105.
- तदैव* : पृ. 108, पृ. 117.
- तदैव* : पृ. 120-121.
- तदैव* : पृ. 122-124.
- तदैव* : पृ. 134-137.
- तदैव* : पृ. 148-149, पृ. 206.
- देखें, रेने गेनो : *स्टडीज़ इन हिन्दुइज्म*, नवरंग, नई दिल्ली, 1985, पृ. 14; तथा श्रीअरविन्द : *द रेनेसां इन इण्डिया एण्ड अदर एसेज ऑन इण्डियन कल्चर* (द कलेक्टेड वर्क्स ऑफ श्रीअरविन्द, अंक 20), श्रीअरविन्द आश्रम, पाण्डिचेरी, 1977 (इस अंक के अधिकांश निबन्ध *द फाउण्डेशन्स ऑफ इण्डियन कल्चर* में भी उपलब्ध हैं)।

भारतीय कला और आनन्द कुमारस्वामी

नीरज कुमार सिंह

भारतीय कला भारतवर्ष के विचार-कार्य-संस्कृति का दर्पण है। भारतीय जन-जीवन की पुष्कल व्याख्या कला के माध्यम से हुई है। कला श्री एवं सौन्दर्य को प्रत्यक्ष करने का साधन है। प्रत्येक कलात्मक रचना में सौन्दर्य एवं श्री का निवास रहता है। उसी से सृष्टि में रस का संचार होता है और रस के बिना प्राण हो नहीं सकता। जिस जगह रस, प्राण और श्री एकत्र रहते हैं वहीं कला का निवास होता है। परम्परागत मान्यता यह रही है कि आनन्द के लिए विश्व-कर्त्ता ने सृष्टि की रचना की। वह स्वयं रस से तृप्त है, कहीं से किसी प्रकार रस से न्यून नहीं है।¹ एक अखण्ड रस सृष्टि में सर्वत्र ओत-प्रोत है। उससे रसानुभव के लिए प्राण सदा उत्सुक रहता है। रस की दुर्धर्ष धाराएँ जब प्रकट होती हैं, तब प्राण तृप्त होता है। कला के अंक में पोषित समाज को सृष्टि-सम्बन्धी श्री, प्राण और रस का अपूर्व अनुभव प्राप्त होता है।

मन के सूने प्रदेश को भावों से और लोक को मूर्त रूपों से भरना ही कलात्मक सृष्टि है। कल्पना के लोक में नए-नए भावों की सृष्टि करना राष्ट्र-चिंतन का उत्थान-पक्ष है। वस्तुतः कला रूपों का निर्माण करती है, वे रूप हमारे जीवन में भरते हैं और जीवन रूपों का समुदाय है। कलात्मक रूपों का ही नाम संस्कृति है। पुराण और साहित्य जब कल्पना के प्रदेश में भावों के नए ठाठ बनाते हैं और इतिहास का सत्य उनमें बसता है, तभी तीनों का वरदान पाकर कला समाज के जीवन को अनेक मूर्त रूपों से भर देती है। भारतीय कला कुतूहल या विलास मात्र नहीं है, यह वर्तमान और भावी जीवन की आवश्यकता को तृप्त करने का साधन है। कालिदास 'कुमारसम्भव' में कहते हैं कि हमें रूप तो चाहिए, किन्तु पाप की भावना नहीं।² निष्पाप रूप ही जीवन की सुन्दरता है, अर्थात् पाप के संस्पर्श से रूप ढल जाता है। यूनानी दार्शनिक पेरिक्लीस ने एथेन्सवासियों को सम्बोधित करते हुए कहा था कि 'हमें कला चाहिए, विलास नहीं; हम विज्ञान की उपासना करते हैं, लेकिन मानव का नाश नहीं चाहते। इस तरह प्राचीन संस्कृतियों में कला की श्रेष्ठ उद्भावना और सृष्टि को देखा जा सकता है।

* प्रवक्ता, सामाजिक विज्ञान, एम.डी. कॉलेज, बाराबंकी।

कलात्मक वस्तु का बहिरंग अर्थ हमें उस बिन्दु पर ले जाता है, जहाँ उसके अंतरंग अर्थ की व्याख्या आरम्भ होती है। प्रत्येक कलावस्तु किसी मनोगत भाव का स्थूल प्रतीक होती है। अतएव, सच्चे कला-पारखी की रुचि कला द्वारा भाव या अर्थ की व्यंजना में होती है। भारतीय कला की समग्रता को समझने के लिए उत्पत्ति-स्थिति-प्रचार जैसे तीन यत्न आवश्यक हैं—सर्वप्रथम, अमूर्त भावों की सृष्टि, अमूर्त भावों को मूर्त रूप प्रदान करना, तत्पश्चात् लोक में कला की अभिज्ञता का प्रचार करना। कालिदास कहते हैं कि जगत में माता-पिता ही कला के अर्थ और रूप के जनक-जननी हैं। अर्थ अमूर्त लोक का और रूप मूर्त जगत का प्रतिनिधि है। दोनों ही भगवान् विष्णु के दो रूप हैं। एक को परमरूप और दूसरे को विषयरूप कहा गया है।³ रूप को शरीर कहा जाए, तो अर्थ कला का प्राण है। कालिदास ने शब्द या रूप को जगन्माता और अर्थ को जगत्पिता कहकर कला की सर्वाधिक अभ्यर्थना की है।⁴ समस्त विश्व के नाना पदार्थों के मूल में अर्थतत्त्व ही नियमित है, जिसे भाव या भावना कहते हैं; अर्थात् मनुष्यों के हृदय में जो मनोभाव रहते हैं, वे ही कला में मूर्त होते हैं। यह भावना मूलतः तीन प्रकार की होती है। प्रथम, ब्रह्म-भावना अर्थात् विश्वात्मक, परम, एक और अभिन्न मनोभाव जो ब्रह्म के समान निरपेक्ष और सर्वोपरि है, वही सभी रसों और मनोभावों का मूल स्रोत है। द्वितीय, कर्म-भावना अर्थात् उच्चतम देवों से लेकर मनुष्य एवं इतर प्राणियों तक के जो प्राकृत मनोभाव हैं। तथा, तृतीय, उभय-भावना अर्थात् ब्रह्मतत्त्व और मानुषी-कर्म—इन दोनों का संयोग हो। कला प्राणवन्त तभी बनती है, जब उसके रूपात्मक पार्थिव शरीर में भावात्मक देवांश प्रवेश करता है। कलात्मक रूप में भावात्मक देव की प्रतिष्ठा ही कला की सच्ची प्राण-प्रतिष्ठा है। मानुषी कर्म के साथ ब्रह्मज्ञान के सम्मिलन से ही राम, कृष्ण, बुद्ध बनते हैं—जो कला के सच्चे आराध्य हैं। कला के रूपों के मूल में छिपे हुए सूक्ष्म अर्थ का परिचय प्राप्त करने से कला की सौन्दर्यानुभूति पूर्ण और गम्भीर बनती है। अध्यात्म के बिना सौन्दर्य या चारुतत्त्व सौभाग्यविहीन है। विश्व-रूपों के भीतर जो परम-तत्त्व रूप है, उसी के ध्यान से आत्मशुद्धि होती है। जैसे अग्नि घर में प्रविष्ट होकर उसे दग्ध कर देता है, वैसे ही कला के आधार से चित्त में जो भाव अनुप्राणित या प्रेरित होते हैं, उनसे मन का मैल हट जाता है।⁵ 'शुक्रनीति' के अनुसार, कलाकार शास्त्रवर्णित दृष्टि के अन्तर्गत ध्यान और मन की शक्ति से कला की चारुता का पूरा फल प्राप्त कर सकते हैं। प्रत्येक मूर्ति का आदि-अन्त धार्मिक अभिव्यक्ति में है; अर्थात् वह देवतत्त्व का प्रतीक मात्र है।⁶ इस तरह भारतीय कला एक शाश्वत रूपसत्त्व है। उसका सौन्दर्य छीजता नहीं। उसके लावण्य की ध्वनि फिर-फिर कर मन में आती है। समस्त कला मानुषी शिल्प है, किन्तु वह देव-शिल्प की अनुकृति है। कलाकार के हृदय में जो दैवी प्रेरणा आती है, वही शब्द, रूप एवं अर्थ को दिव्य सौन्दर्य से प्लावित कर देती है।

ऋग्वेद में वर्णित है कि विश्व में जितने विविध रूप हैं, वे सभी किसी मूल रूप के अनुसार उत्पन्न हुए हैं।⁷ वह मूलभूत नमूना या प्रतिरूप अनेक रूप धारण करता है।

एक-रूप सर्वरूप बना है। वस्तुतः, शिल्पकार निर्माण की इच्छा से जब ध्यान करता है, उसके ध्यान में सर्वरूप समाविष्ट रहते हैं। उसका प्रज्ञान या मन जब एक रूप को पकड़ पाता है तो वही रूप स्फुट होकर चित्र या पाषाण में अभिव्यक्त हो जाता है; शेष रूप हट जाते हैं। समस्त रूपों की समष्टि में से जब एक रूप को शिल्पकार एक बिन्दु पर प्रकट कर देता है, वही शिल्प की अभिव्यक्ति हो जाती है। उस रूप में अपने प्रतिरूप की जैसी पूर्ण अभिव्यक्ति होगी, उतनी ही श्रेष्ठ वह शिल्पकृति मानी जाएगी। अतः भारतीय दृष्टि के अनुसार रूप वही अच्छा है, जो अपने प्रतिरूप का अधिकतम परिचय दे सके, जिसमें उसका सर्वोत्तम दर्शन मिल सके। जो प्रतिरूप है, उसकी सबसे अधिक अभिव्यक्ति प्रतीक द्वारा ही की जा सकती है। प्रतीक ही अमूर्त की सच्ची मूर्ति है। जो स्वयं मूर्त-भाव से कम से कम आक्रान्त होता है, वही प्रतिरूप का सबसे अधिक परिचायक है। भारतीय शिल्पकार के शिल्प का निर्माण बहुधा उस भाव-जगत में होता है, जिसमें वह सर्वरूप का ध्यान करता है। सर्वरूप का तात्पर्य समाजव्यापी परिनिष्ठित रूप से है, व्यक्ति-विशेष के सादृश्य से नहीं। भारतीय शिल्पी युग-विशेष के प्रतिमानित सौन्दर्य का ध्यान करके उसे शिल्प में प्रयुक्त करता है, तब वह रूप की भाँति युग की भाँति बन जाता है। मथुरा की यक्षी प्रतिमाएँ स्त्री-विशेष की प्रतिकृति नहीं, वे नारी-जगत् की आदर्श प्रतिकृति हैं। जो उस देश और उस काल में शिल्पी के मन में निष्पन्न हुआ, वही इन रूपों में मूर्त हुआ है। कला में आभ्यन्तर अर्थ और बाह्यरूप, दोनों का जहाँ एक समान रमणीय विधान हुआ है, वहीं श्रेष्ठ कला की अभिव्यक्ति भी हुई है। जिस वस्तु का हमें ज्ञान होता है अथवा जिसकी रचना की जाती है, उस सबको मूर्ति कहते हैं। मूर्ति का ध्यान हमारे मन के लिए आवश्यक है। यह मूर्त-विश्व ही कला का क्षेत्र है। चित्र में अंकित मूर्ति को चित्र कहते हैं। चित्रकार या शिल्पी के मन में जो मानसी सृष्टि होती है, उससे ही शिल्प और चित्र का जन्म होता है। जो कुछ यहाँ है, वह सब देव का मूर्त-रूप है। सच्ची कला कभी भी फोटो जैसी अनुकृति नहीं बन सकती। कला का मूर्त-रूप तो एक प्रतीक या संकेत मात्र है। वह हमें उस अव्यक्त रूप तक ले जाता है, जो देश और काल की परिधि में विजड़ित नहीं होता, जो अमृत है, रसवान है। इसी सन्दर्भ में मूर्ति-पूजा भी भारत में एक कला है। 'विष्णु-पुराण' कहता है कि मूर्ति के दर्शन से अपने मन को दृढ़ या शक्ति-सम्पन्न करना चाहिए। योग की भाषा में यही धारणा है। जो इस प्रकार की साधना में सफल हो, उसे फिर स्थूल रूपों से मानसिक भावों की ओर जाना चाहिए। यही शान्तानन्द है या शान्ति की आराधना का लक्ष्य है। भिन्न मूर्त रूपों को पीछे छोड़ देने से मन उस भूमिका में चला जाता है, जो भगवान का एकावयव या एक अखण्ड समष्टिगत रूप है। यही ध्यान की अवस्था है। अन्त में ध्यान करने वाला उस स्थिति को प्राप्त करता है, जो योग की सबसे ऊँची भूमिका है, जिसमें ध्याता और ध्येय दोनों एक हो जाते हैं। इसे प्राप्त कर लेनेवाला योगी समाधि का अनुभव करता है। इस प्रकार, मूर्ति-उपासना का लक्ष्य वही है, जो योग-साधना में योगी का है।¹⁸ भारतीय कला मूलतः

जीवन का सहज धर्म-व्यापार है। यह जीवन की न तो शोभा है, न जीवन का प्रतिबिम्ब। इसकी जीवन से अलग कोई स्थिति नहीं है। यह अवश्य है कि यह जीवन व्यक्ति में उद्भासित होता हुआ भी समष्टि-जीवन है। यही कारण है कि हमारे यहाँ कला, कला के लिए है या कला, जीवन के लिए है—यह विवाद नहीं उठा। यदि कला की स्वायत्तता की बात की गई तो उसका सन्दर्भ केवल इतना ही है कि ये कलाकार अपने ढंग से अपूर्ण जीवन की सृष्टि करते हैं, जो प्रस्तुत जीवन का विकल्प नहीं है, उनका कोई समानान्तर जीवन है। वस्तुतः वह इसी जीवन का रागात्मक संस्कार है। संस्कार के कारण जीवन अधिक जीवनीय हो जाता है। भारतीय परम्परा में कला और कारीगरी में कोई अन्तर नहीं किया गया, जैसा कि आधुनिकता ने 'आर्ट' और 'क्राफ्ट' में किया। इसी प्रकार 'व्यावसायिक कला' और 'शुद्ध कला' में भी कोई अन्तर भारतीय परम्परा में नहीं है, क्योंकि कोई भी कला वस्तु नहीं है। मिट्टी के जो खिलौने बनते हैं, जो गाए जानेवाले गीतों के बोल होते हैं, जो यज्ञ की वेदी में ईंट होती है, या किसी राग के आरम्भ का आलाप होता है, वह सब इसी में अनुप्राणित है—ऐसे उच्छ्वास से, जिसमें जगत्मात्र इसी स्पन्दन से थिरक रहा है। जगत् विषय नहीं रह गया है, अपितु विषयों के साथ एकाकार हो गया है।¹⁹ इस तरह भारत में प्रत्येक कार्य-व्यापार कलात्मक सृष्टि है जिसका मूल शास्त्र है। शास्त्रोचित रचना होने के कारण चित्ति और विराट् जागृत रहता है। जिसके फलस्वरूप प्रत्येक कार्य-रचना 'सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम्', 'सा विद्या या विमुक्तये' या 'सच्चिदानन्द' में परिणत हो जाती है।

जीवन की गति सदैव स्थूल से सूक्ष्म भाव की संवेदना की ओर होती है। अर्थात्, अमूर्त रूपी समष्टि में विराट् भाव की सम्प्राप्ति मूर्त रूपी व्यष्टि एक सुविन्यस्त कलाकार की भाँति ही कर सकता है। दूसरे शब्दों में, परम्परागत सभ्यताओं की गूढ़ समझ उस समाज की कलात्मक दृष्टि से ही हो सकती है, चाहे उसकी वृत्ति कैसी ही क्यों न हो; अन्ततः वह परम्परागत समाज में एक कलाकार ही है। इसी अप्रतिम व्याख्या के कारण आनन्द कुमारस्वामी को मुख्यतः एक कलाविद् के रूप में ख्याति प्राप्त हुई। सनातन या परम्परागत सभ्यताओं की शास्त्रीय विवेचना जिस कलात्मकता से कुमारस्वामी ने प्रस्तुत किया, उससे जहाँ परम्परा में निहित प्रत्यय एवं धारणाएँ स्पष्ट हो जाती हैं, वहीं अपनी अन्तर्प्रज्ञा से वे आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता का दम्भ भरनेवाली दृष्टियों की निर्मम आलोचना भी करते हैं।

कुमारस्वामी का श्रीलंका में मिनरोलॉजिकल सर्वे का डायरेक्टर बनना एक वैज्ञानिक के उर्वर मस्तिष्क का प्रस्फुटन था। लेकिन सिंहल जीवन-पद्धति पर आधुनिक पाश्चात्य दृष्टि के बढ़ते प्रभाव को देखकर उनकी चिन्ता जिस चिन्तन-मनन को जन्म देती है, वह है—स्वदेशी दृष्टि। 'सीलोन सोशल रिफॉर्म सोसायटी' के द्वारा अपने देशवासियों में श्रीलंका की प्राचीन कला, शिल्प, शिक्षा आदि विषयों में रुचि जागृत करने का जो कार्य उन्होंने शुरू किया, वही उनके भावुक हृदय में एक कलाकार

का अंकुरण था। साम्राज्यवाद से सीधे संघर्ष में वे सरकारी पद से त्यागपत्र देकर सामाजिक जीवन में कला के उद्धार के लिए बौद्धिक कार्यक्षेत्र में उतर आए। सिंहल के प्राचीन उद्योग-धन्धों और कलाओं की देशीय पारिभाषिक शब्दावली के विशद अध्ययन के रूप में 'मीडिवल सिंहलीय आर्ट' नामक उनका प्रथम महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। इस तरह का अध्ययन तुलनात्मक दृष्टि से यूरोप की अन्य भाषाओं में भी नहीं दिखाई देता है। परम्परागत सभ्यताओं के प्रति खतरे को भाँपते हुए उन्होंने 'डीपर मीनिंग ऑफ दि स्ट्रगल' (1907) में लिखा कि समस्त संसार में साम्राज्यवाद और राष्ट्रवाद के मध्य संघर्ष है। साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संघर्ष में भाग लेने एवं कला को संरक्षण देने की स्वदेश-प्रेम की भावना उन्हें कलकत्ता खींच लाई, जो राष्ट्रीय गतिविधियों और कला दोनों का केन्द्र था। कलकत्ते में वे ठाकुर परिवार के सानिध्य में रहे जहाँ अनीन्द्रनाथ ठाकुर, नन्दलाल वसु एवं अखिल हलधर भारतीय परम्परा के आदर्शानुसार चित्रकला का अध्ययन करा रहे थे, वे भी कुमारस्वामी के गुण-गृहक बन गए।

'एंग्लेसाइजेशन ऑफ दि ईस्ट' और 'क्रिश्चियन मिशनर्स इन इण्डिया' में कुमारस्वामी ने लिखा कि किस प्रकार सरकारी स्कूल-कालेज भारतीय जीवन-दृष्टि एवं आदर्शों को नष्ट करने में लगे हैं, जिनका मूल उद्देश्य है भारतीय धर्म-दर्शन के सिद्धान्तों एवं मान्यताओं को भ्रामक और खोखला सिद्ध करना।¹⁰ कुमारस्वामी की विशिष्टता इस तथ्य में निहित थी कि उन्होंने ब्रिटिश सरकार की आर्थिक एवं औद्योगिक नीतियों के फलस्वरूप परम्परागत शिल्पकारी पर हो रहे विनाशकारी प्रभावों की गम्भीर विवेचना प्रस्तुत की। 'एसेज इन नेशनल आइडियलिज्म' में उन्होंने लिखा कि इंग्लैण्ड की साम्राज्यवादी नीतियों के कारण भारत की परम्परागत कला लगातार नष्ट होती जा रही है, वहीं दूसरी ओर भारत के संभ्रान्त वर्ग का एक बड़ा भाग अपने अज्ञान, दुर्बलता और दम्भ के कारण सरकार के क्रियाकलापों में सहयोग कर रहा है। परम्परागत शिल्पकार न केवल ब्रिटिश-शासन के शोषण के शिकार हैं, वरन् वे भारतीय राज्याश्रयों की उपेक्षा एवं उदासीनता के कारण कला और शिल्प की अपनी सदियों पुरानी साधना को छोड़ने के लिए बाध्य हैं। कुमारस्वामी के लेखों का प्रभाव यह हुआ कि इंग्लैण्ड में भारत राज्य सचिव लार्ड बरकनहेड ने 1910 में 'इण्डिया सोसायटी', लंदन में एक भाषण के दौरान कहा कि (अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे) 'शिक्षित भारतीय' अपने देश की कला को नहीं समझते हैं। भारतीय कला संसार में सर्वाधिक समृद्ध है। भारतीय कला के समान सौन्दर्य, उदात्त-भाव और विपुलता प्राचीनकाल से अब तक और किसी देश की कला में नहीं पाई जाती है।

'इण्डिया सोसायटी ऑफ ओरियण्टल आर्ट' के निमन्त्रण पर कुमारस्वामी ने 1910 में दूसरी बार भारत की यात्रा की। इलाहाबाद प्रदर्शनी के कला विभाग में संयोजक पद पर रहते हुए उन्होंने सामग्री-संग्रह के लिए भारत के उत्तर-दक्षिण प्रान्तों

की यात्राएँ कीं और चित्रों एवं मूर्तियों का एक बहुत ही विशिष्ट निजी संग्रह एकत्र किया, जो बोस्टन म्यूजियम में दुष्प्राप्य निधि के रूप में आज भी सुरक्षित है। 'बगवियर ऑफ लिटरेसी' में कुमारस्वामी ने लिखा कि पाश्चात्य शिक्षा ने हमारे (भारतीय) शिक्षित समाज में भारतीय कला और संस्कृति के प्रति अवहेलना और उदासीनता उत्पन्न कर दी है। भारतीय शिक्षित वर्ग अपने धर्म, अपनी परम्परा एवं राष्ट्रीय आदर्शों की अवहेलना करते हैं, उनका तिरस्कार करते हैं। अंग्रेज़ी शिक्षा ने भारतीय कला, शिल्पकला, लोक-कला और गृह-जीवन को नष्ट कर दिया है।¹¹

कुमारस्वामी की पुस्तक 'ट्रांसफॉर्मेशन ऑफ नेचर इन आर्ट' भारतीय कला-परम्परा पर 'गीता' मानी जाती है। इसमें भारतीय कला की परम्परा, उसके सिद्धान्त, उद्देश्य और नियम सूत्रात्मक शैली में संकलित किए गए हैं। इसी ग्रन्थ में जर्मन दार्शनिक एकार्ट के विचार संगृहीत हैं। एकार्ट भारतीय कला के सन्दर्भ में लिखते हैं कि कला ईश्वरीय देन है और मनुष्य का समस्त जीवन इसी ईश्वरीय सौन्दर्य की उपासना की ओर उन्मुख है। आदर्श कला मनुष्य के लिए असीम परिवर्तनीय आनन्द है। कला धर्म है और धर्म ही कला है। कलाकार कोई विशेष व्यक्ति नहीं, वरन् प्रत्येक व्यक्ति एक विशेष प्रकार का कलाकार है। कला-शैली, कला का रूप, मूर्ति और सिद्धान्त ही वास्तविक दृष्टि है, अर्थात् कला की आधारशिला है। एकार्ट प्रश्नोत्तर शैली में स्वयं से प्रश्न करते हैं : मूर्ति क्या वस्तु है? और स्वयं ही उत्तर देते हैं : प्रत्येक मूर्ति एवं चित्र वह वस्तु है, जिसका ज्ञान कलाकार को है। उसे वह तदनुसार बनाता है। जैसे पुत्र पिता का प्रतीक (चित्र) है, वैसे ही चित्र कलाकार के ज्ञान तथा बुद्धि का प्रतीक है। वह उसकी मूर्ति है और उसी का रूप है। मूर्ति कलाकार की भावना और प्रेरणा का प्रतिबिम्ब है, जिसका वह प्रदर्शन करता है। मूर्ति का कलाकार से अलग अपना कोई अस्तित्व नहीं है। चित्र अथवा मूर्ति कलाकार के मस्तिष्क की उपज है, यद्यपि वह मूर्ति या चित्र जो वह बनाता है उतना परिपूर्ण नहीं होता, जितना कि कलाकार की परिकल्पना। वैसे कलाकार अपनी शक्ति और क्षमता के अनुसार उस चित्र अथवा मूर्ति को अभिव्यक्ति देता है। एकार्ट कहते हैं कि सौन्दर्य की रचना के तीन अंग हैं। पहला अंग है, चित्र के विचार-रूप की उत्पत्ति; दूसरा है, मन के चक्षु के सामने उसका प्रतिबिम्ब होना; और तीसरा है, उसके आकार-ग्रहण की क्रिया। भारतीय मूर्तिकार या चित्रकार उसी ध्यानयोग की साधना-पद्धति से ही चित्रांकन-विधि का प्रयोग करते चले आ रहे हैं। कुमारस्वामी एकार्ट की चित्रकला की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि कला किसी वस्तु या विषय का गुण-निर्देशन, व्याख्या, तात्पर्य और सारांश है। वह चित्र यथावत, लाक्षणिक अथवा दृष्टांत या रूपक और रहस्यात्मक है। कला की कई शैलियाँ या विधियाँ हैं, किन्तु कला सार्वभौम वाणी है। शैलियाँ कलाकार की अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र हैं। इन विधियों-माध्यमों का अध्ययन धैर्य से विधिपूर्वक करना होता है।

कुमारस्वामी ने चीनी, रोमन, यूनानी और मध्यकालीन यूरोपीय परम्पराओं में अनुस्यूत कलात्मक अन्तर्दृष्टि की गहन मीमांसा को प्रस्तुत किया। चीन की दृष्टि में कला-सम्बन्धी नियमों का और शुक्राचार्य के भारतीय कला-तत्त्वों में व्यापक समानता को कुमारस्वामी ने प्रकट करने की कोशिश की है। प्राचीन भारत में कोई ऐसा काल नहीं रहा, जब कला को संरक्षण प्राप्त न हुआ हो। 'महाभारत' और 'उत्तररामचरित' (भास-रचित) में कला की प्रभाविता कितनी व्यापक थी, इसका विशद वर्णन वे करते हैं। 'ट्रांसफार्मेशन ऑफ नेचर इन आर्ट' में उन्होंने लिखा कि प्रत्येक चित्रकार चित्र अपने ही ढंग से अपनी शैली में बनाता है। वह स्वयं मानो कामधेनु है, जो दर्शक के लिए वैसा ही चित्र बना देता है जैसा वह चाहता है। हमको भारतीय कला को प्रत्येक पक्ष एवं दृष्टिकोण से देखकर उसकी सराहना करनी चाहिए। हमारी कला में भक्ति, निष्ठा और धार्मिक भाव, कोमलता और भावुकता तथा कला-शैली की मर्मज्ञता और रसिकता इत्यादि सब विद्यमान रहते हैं।¹²

आनन्द कुमारस्वामी लिखते हैं कि हमारे (भारतीय) इतिहास में ऐसा कोई समय नहीं था, जब हमारे देश में चित्र और मूर्तिकला के गुणग्राहक, आश्रयदाता न रहे हों। आधुनिक इतिहासकारों की धारणा है कि कला को पेट्रोनेज (आश्रय, गुणग्राहकता) मुगल बादशाहों के द्वारा शुरू हुआ, जिसका खण्डन कुमारस्वामी करते हैं। प्राचीनकाल में कलाकार समाज और जनता का अंग था। वह जनता को समझता था और लोग उसे और उसकी कृतियों को समझते थे। आज के कलाकारों की तरह वह जन-समूह से पृथक् नहीं था। आधुनिक कलाकारों की कृति न केवल साधारण लोगों की समझ में नहीं आती है, वरन् शिक्षित समाज भी आधुनिक पाश्चात्य दृष्टि के नकलची कलाकारों की कृतियों को नहीं समझ पाते। आधुनिक नकलची चित्तेरा जनसमूह से पृथक् रहने वाला अजीब व्यक्ति है। वह चित्र या मूर्ति बनाने में अपनी पसन्द के पाश्चात्य कलाकारों की नकल करता है। वह समाज की रुचि और भावना की परवाह नहीं करता कि वे क्या चाहते हैं और क्या पसन्द करते हैं। आधुनिक कलाकार जनमानस की स्मृति, परम्परा, आदर्श और उनके पूर्वजों के विश्वास की परवाह भी नहीं करते, न उनकी ओर ध्यान ही देते हैं। जो मन में आया बस वही तैयार कर दिया।¹³

एक कलाकार की कला की पराकाष्ठा सर्वोत्तम दैवी-चित्र तैयार करना है। इसी में कलाकार के जीवन का उद्देश्य पूरा हो जाता है। कला-निर्माण का तत्त्व यह है कि कलाकार अपनी कला में प्रकृति की विभिन्न स्थितियों और रूपों को दर्शाता है। इसी को कहते हैं कि कलाकार सृष्टि के सभी प्राणियों को ईश्वर के समीप लाता है। इस अर्थ में कला परम्परागत, रूढ़ि है। वह अभिसामयिक है और औपचारिक है। इसी को रूढ़िवादिता या रिवाज भी कहते हैं। कलाकार का ध्येय अथवा विचारों का प्रदर्शन रूढ़ि अथवा परम्परागत संकेतों के माध्यम से होता है। कुमारस्वामी के अनुसार यही परम्परागत कला की दृष्टि है। 'क्रिश्चियन एंड ओरियन्टल फिलॉसॉफी ऑफ आर्ट' में

कुमारस्वामी ने लिखा है कि क्रिश्चियन और हिन्दू कला के मूल सिद्धान्त और आदर्श एक हैं, क्योंकि दोनों की आधारशिला धर्म है। दोनों एक ही ध्येय (ईश्वर) तक पहुँचने के मार्ग (धर्म) हैं, लेकिन स्वयं में साध्य न होकर साधन-मात्र हैं। पाश्चात्य (क्रिश्चियन) कला और प्राच्य (एशियाटिक) कला—दोनों में परम्परा का महत्वपूर्ण स्थान है। कोई भी चित्र या मूर्ति को परम्परा के अनुसार निर्मित हुई हो, चाहे वह क्रिश्चियन कला की, या प्राच्य कला की, या लोक-कला की देन हो, उस पर कलाकार का नाम सामान्यतः अंकित नहीं होता। यही 'अनाम' गाथा साहित्यिक रचनाओं पर भी लागू होती है। परम्परागत चित्र या मूर्ति को किसने बनाया अथवा किसी पद को किसने कहा, यह जानना जरूरी नहीं होता। इतना जानना बहुत है कि जो बनाया गया या लिखा गया या कहा गया है, वह सत्य है। रचना चाहे किसी की हो उसकी आधारशिला सत्य, आध्यात्मिकता हो।¹⁴

कला-परम्परा-विज्ञान में ज्ञान प्रधान है। परम्परा-विज्ञान में धार्मिक चिह्न और प्रतिक्रिया तथा विधि के लिए भी स्थान है। मनुष्य कला के लिए नहीं है, वरन् कला मनुष्य के लिए है। परम्परागत कला में 'क्रिया' और 'ध्येय' एक ही हैं। चित्रण प्रमुख और इतिहास-प्रदर्शन कला का गौण गुण है। परम्परागत कला और शास्त्रीय कला तथा लोकाचार, सामयिक रिवाज से भिन्न हैं। परम्परागत कला का विशेष ध्येय होता है। उसकी सृजन-क्रिया, निर्माण-विधि निर्धारित है, जो सदियों से पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आ रही है। उसका महत्व और खूबी अब भी अचल है, तथापि आधुनिक रिवाज ने परम्परा से मुँह मोड़ लिया है।¹⁵

लोक-कला का उद्गम स्थान समाज और जन-समूह है। साधारण लोग उसके कर्त्ता, उसके संरक्षक और उसको प्रवाहमान रखनेवाले हैं। लोक-कला मनुष्य के साथ-साथ परम्परा से चली आ रही है। एक अर्थ में, वही शास्त्रीय कला की आधारशिला है। वास्तव में परम्परागत कला लोक-कला ही है। लोक-कथा भी लोक कला पर आधारित है, जिसे जनमानस संचित किए और सँभाले रहता है; भले ही उस कला को साधारण लोग समझ भी न पाएँ। जो कला लोक-गाथा और किस्से-कहानियों में निहित है, और संचित है, वह सब गोपनीय मत और चिह्न हैं। यह गोपनीय विश्वास प्राचीन समय से संचित है, जो लोगों की कल्पना और स्मृति के भंडार-रूप में सुरक्षित चला आया है। वहीं वह लोक-मत, विश्वासों तथा रीति-रिवाजों की साकार मूर्ति है।¹⁶ रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने 'आर्ट एण्ड ट्रेडिशन' लेख में कहा है कि कला की प्रत्येक पारम्परिक संरचना में इतनी लोच अवश्य होनी चाहिए कि वह जीवन के विभिन्न रूपों एवं आवेगों को—ये कोमल हों या ओजस्वी, अपने साथ विकसित होने का अवसर दे। ऐसी परम्पराएँ भी हैं, जो साहित्यशास्त्र में कठोर नियमों के कारण अपनी अलग सत्ता स्थापित कर लेती हैं, और रचनाकार के महत्त्व तथा जीवन-जिज्ञासा को कुंठित कर देती हैं; जब कि सच्चाई यह है कि कलाकार के यही गुण अभिव्यक्ति की अनन्त स्वतन्त्रता के कारक होते हैं।

आनन्द कुमारस्वामी ने सूत्रात्मक वाक्यों में कला की परिभाषा दी है। उनका कहना है कि जैसे जीवन में कार्य करने के लिए, इस संसार में रहने के लिए और काम करने के लिए नियम, नीति और शास्त्र का सहारा लेना होता है, नियमों द्वारा हमारा पथ-प्रदर्शन होता है; उसी प्रकार प्रत्येक कला के नियम और सिद्धान्त होते हैं, जिनका अनुकरण किए बिना मूर्ति या चित्र का सम्यक् निर्माण नहीं हो सकता। कला प्रत्येक वस्तु के अन्दर निहित है, कलाकार उस वस्तु के माध्यम से कला का प्रदर्शन करता है। कला में मानवीय सत्य निहित हैं और कला स्वयं मानवीय लक्षण है। वस्तुतः कोई भी कलाकृति या कार्य-विचार ईश्वर तक पहुँचने का साधन है। कला सौन्दर्यमय प्रदर्शन है, जो आनन्द, प्रसन्नता और सुख का स्रोत है। कला के द्वारा मनुष्य के भाव साकार बन जाते हैं। कला किसी भी जाति की, किसी विशेष समय की देन है।¹⁷ जर्मन कलाविद् गोयट्स मानते हैं कि 'प्रत्येक कला देश व जाति-विशेष के जीवन-आदर्श, ध्येय, आकांक्षा, उद्देश्य तथा अपने समय के विचारों का प्रतीक है। ऑस्ट्रियन विवेचक स्ट्रैला क्रैमरिश का कहना है कि 'भारतीय कला भारतवर्ष के इतिहास, संस्कृति, सभ्यता और विश्वासों का संकलन है।' आनन्द कुमारस्वामी कहते हैं कि कला जीवन की एक प्रक्रिया अर्थात् जीवन के रहन-सहन का तरीका है, सौन्दर्य के साथ जीवन-यापन करना है; अर्थात् सौन्दर्यमय जीवन मनुष्य को कल्याण और आनन्द की ओर ले जाता है। कला जीवन का निचोड़ रस है, या प्रकृति का प्रतिरूप है, जिसमें निराकार भावना और दैवी शक्ति निहित है। कला का काम है मनुष्य में सौन्दर्य के प्रति प्रेम उत्पन्न करे और उसे बढ़ाए। कला मनुष्य के आनन्द का स्रोत है तथा कला का अन्त भी आनन्द ही है।

आनन्द कुमारस्वामी के मतानुसार कला में सौन्दर्य के मात्रा की माप-तौल नहीं हो सकती, अर्थात् खूबसूरती गिनी या तोली नहीं जा सकती। जब किसी खूबसूरत चीज को देखते हैं तो वह वास्तव में उस चीज, चित्र या व्यक्ति की आभा न कि उसका रूप, हमें उसकी ओर आकर्षित करता है। 1910 में आनन्द कुमारस्वामी ने रॉयल सोसायटी ऑफ आर्ट्स के एक व्याख्यान में कहा था कि कला-निरीक्षक और कला के इतिहासकारों का कर्तव्य साधारण है। उनका काम अपनी काबिलियत दिखाना नहीं है, वरन् उनका कर्तव्य है कि कलाकार की सेवा अच्छी तरह से करें तथा कला-उपासकों की कला समझने में सहायता करें। रस और चित्र का वास्तविक भाव चित्र के निरीक्षण करने से नहीं ज्ञात हो पाता, अपितु चित्र के असली भाव को समझने की शक्ति पूर्व-जन्म के ज्ञान से उसको प्राप्त होती है। एक आलोचक कला की सही व्याख्या तभी कर सकता है, जब उसमें स्वयं उस कला के सृजन की शक्ति हो।¹⁸ आनन्द कुमारस्वामी कला-दृष्टि को स्पष्ट करने के लिए 'कमल' के उदाहरण को व्यक्त करते हैं। कमल का चित्र आप इस प्रकार से भी बना सकते हैं कि उस पर भौरा बैठ जाए, ज्योंही ऐसा फूल बनाएँगे वह कला अपवर्तन या अपकर्षण हो जाएगी। क्योंकि वह

फूल मात्र नहीं है, उस फूल में जो रचना है, जो सृष्टि है, वह बतलाना अभिष्ट था। जो कला का कमल है, वह कमल मात्र नहीं है; वह कमल का जो अन्तर्निहित स्वभाव है, जो पृथ्वी का गंधात्मक स्वभाव है, वह है। वह यदि कलाकृति के द्वारा व्यक्त न हो तो वह केवल एक फूल मात्र है, या वनस्पति विज्ञान का एक तथ्य मात्र है। पूरी सच्चाई जो जातीय स्मृति के रूप में समष्टि-मन में कहीं न कहीं है, वह सच्चाई न आए तो वह कमल छोटा है। कला के कमल में यह क्षमता होनी चाहिए कि वह यह दिखला सके कि वह निरा कमल नहीं है। वह वस्तुतः जो अव्यक्त सृष्टि है, रूप-जल है, रस है, उससे उठा हुआ उससे असम्पृक्त और उससे सम्पृक्त सत्त्व कमल है। उसकी नाल उसके भीतर है, लेकिन उसका रस से स्पर्श नहीं है। दूसरे शब्दों में, सृष्टि ही कमल है, उसी रूप में कमल हमारे मन में है, उसी रूप में विधाता उस कमल से निकलते हैं, उसी रूप में जब हाथ में कमल आता है तो वह 'श्री' का बिम्ब बन जाता है। तब उस कमल की पहचान बनती है, जिसकी ओट में दृश्य-कमल है। उसी में विधाता की एक अपूर्वता है, जिससे कमल मात्र ही उसका संकेत बन जाता है। यह एक अपूर्व सृष्टि है। यह समस्त संकेत देने की क्षमता जिस कमल में हो तो वह कमल गोचर कमल का रूपान्तरण होता है; और जिस कमल से भ्रमवश वनस्पति जगत के तथ्य प्रकट होते हैं, वह व्यञ्जक नहीं होता, कुछ कहनेवाला नहीं होता; इसलिए कला के लिए वह तिरस्करणीय होता है।

'दि डांस ऑफ शिव' में कुमारस्वामी लिखते हैं कि महादेव का सबसे बड़ा नाम है—'नटराज'। नटराज के नृत्य-प्रदर्शन में वही नर्तक भी हैं और वही उस नृत्य को देखनेवाले भी। जब नर्तक डमरू बजाता है तो सब उसका नृत्य देखने को आ जाते हैं। जब नृत्य समाप्त होता है तो नटराज आनन्द को प्राप्त हो जाता है। नटराज के नृत्य के तीन प्रमुख लक्षण हैं : प्रथम, ब्रह्माण्ड में जितनी शक्ति और गति है, उसके नृत्य की मूर्ति एक ही है, जिसका संकेत वृत्ताकार है; द्वितीय, संसार में जो असंख्य आत्माएँ भ्रमजाल में पड़ी हुई हैं, उनको मुक्त करना है तथा, तृतीय, नृत्य का ध्येय यह है कि संसार का केन्द्र हृदय में ही है। इस ग्रन्थ ('दि डांस ऑफ शिव') के आमुख में रोम्यौ रोलॉ ने लिखा है कि आनन्द कुमारस्वामी रवीन्द्रनाथ ठाकुर के समान उन बहुत बड़े भारतीयों में से एक हैं, जो पाश्चात्य सभ्यता से पूर्णतः अवगत हैं, पर जिनको एशियाई तथा भारतीय सभ्यता पर गर्व है। उन्होंने इस बात का बीड़ा उठाया है कि परम्परागत धारणा कहीं की भी हो, श्रेष्ठ है; उसी से मानव-जाति का कल्याण सम्भव है। कुमारस्वामी ने आवाज उठाई है कि एशिया (भारत) के उच्च आदर्श खतरे में हैं, एशिया को बचाओ। एशिया का पतन होने पर यूरोप भी नष्ट हो जाएगा, जिसका अहंकार इंग्लैण्ड ने सँजो रखा है। एशिया के ऊपर उठने पर ही यूरोप जिन्दा रहेगा। इस पुस्तक का ध्येय है, भारतवर्ष की आत्मनिधि-विचारधारा की महानता बताना, जो वहाँ अब तक सुरक्षित है; और जिस विधि से समस्त संसार का कल्याण हो सकता है, उसको संसार के सामने रखना।¹⁹

आनन्द कुमारस्वामी पहले कला-समीक्षक और कला-इतिहासज्ञ हैं, जिन्होंने स्पष्ट रूप से भारतीय चित्रकला की विभिन्न शैलियों यथा—राजपूत, मुगल, राजस्थानी और पहाड़ी शैलियों की व्याख्या और विवेचन किया है। 1910-1916 के दौर में कुमारस्वामी ने भारतीय चित्रकला पर कई व्याख्यान दिए और लेख लिखे। साथ में मिनीयेचर पेण्टिंग के माध्यम से ‘राजपूत पेण्टिंग’ नामक प्रथम ग्रन्थ भारतीय चित्रकला पर प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ के प्रकाशन के पूर्व यूरोपीय कलाविदों का मानना था कि मुगल शैली के चित्र मौलिक हैं और उसके चित्रकार समरकंद और बुखारा से आए थे। इस धारणा को कुमारस्वामी ने असत्य साबित कर दिया। यथार्थ तो यह है कि राजपूत चित्रकला मुगलशैली की आधार-सामग्री है। कुमारस्वामी लिखते हैं कि भारतीय लघु आकार की चित्रकला के तीन अलग-अलग विभाग हैं, अर्थात् राजपूत, मुगल और पहाड़ी चित्रकला। राजपूत चित्रकला सत्रहवीं शताब्दी तक अपनी पराकाष्ठा पर रही। सोलहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक मुगल शैली के चित्रों का प्रादुर्भाव रहा। औरंगजेब की तिरस्कारपूर्ण भावना के कारण मुगल दरबार के कलाकार पहाड़ी रियासतों में आश्रय लेने लगे, जिससे पहाड़ी शैली का जन्म हुआ। राजपूत चित्रकला विशुद्धतः भारतीय कला है, जिसका मूल स्वरूप आत्मिक है। सौन्दर्य की पराकाष्ठा का वर्णन इस काल के ग्रन्थ ‘शुक्रनीति’ से ज्ञात होता है, जिसे कुमारस्वामी ने आधारग्रन्थ के रूप में ग्रहण किया तथा जिसमें आदर्श चित्र बनाने की सभी दृष्टियाँ निर्दिष्ट हैं। राजपूत काल कला की पराकाष्ठा प्राप्त किए हुए था। राजपूत काल के बारे में यह धारणा आम हो चली है कि प्राचीन संस्कृति का यह पराभव काल है। आर. एस. शर्मा जैसे मार्क्सवादी इतिहासकारों के वर्ग ने यह सिद्ध मान लिया है कि प्राचीन भारतीय संस्कृति के ताबूत में इसी काल में अन्तिम कील ठोंकी गई। कितनी हास्यास्पद दृष्टि है कि इन लोगों ने कला एवं साहित्य में कोई रुचि नहीं ली और मनगढ़ंत तथ्य गढ़ डाले, जिस पर सुधीजनों को पुनर्दृष्टि डालने की जरूरत है, जिससे कि उसकी (राजपूत काल) पुनर्प्रतिष्ठा सम्भव हो सके।

मुगल कला का धर्म से कोई सम्बन्ध न होने के कारण शासकों के जीवन और मनोरंजन से सम्बन्ध रखनेवाले चित्रों के निर्माण व्यापक मात्रा में कराए गए। कला की आत्मा की समझ न होने के कारण वह अभिजात वर्गों की कला में परिवर्तित हो गई। औरंगजेब के द्वारा चित्रकला की निषेधाज्ञा जारी होने पर जब पहाड़ी रियासतों में इन कलाकारों को राज्याश्रय प्राप्त हुआ तो पुनः घरेलू जीवन-व्यवहार, कृष्ण-राधा एवं अन्य देवी-देवताओं तथा सामाजिक जीवन पर चित्र बनने शुरू हुए, जिसे कुमारस्वामी ने ‘लोक-कला’ की संज्ञा दी।²⁰ पहाड़ी चित्रों की विशेषता मानवीय सौन्दर्य को दर्शाने की है, जिसमें रूप-रंग, नख-शिख एवं आकार का लावण्यमय चित्रण और उनकी पार्श्व छवि अत्यन्त आकर्षक है। राजपूत पेण्टिंग में कुमारस्वामी ने ‘सिख चित्रकला’ का भी उल्लेख किया है। महाराजा रणजीत सिंह का आधिपत्य कांगड़ा रियासत पर होने से सिख चित्रकला ने कांगड़ा चित्रकला के सम्पर्क से और उन्नति प्राप्त की।

कुमारस्वामी कहते हैं कि मैंने जो कुछ कला के सम्बन्ध में लिखा है, वे मेरे अपने व्यक्तिगत विचार नहीं हैं। मेरे ये विचार श्रुति, स्मृति और कला-विज्ञान पर आधारित हैं। थॉमस एक्विनास के वाक्य—‘कलाविहीन सभी प्रयास अनुपयोगी हैं’—को उन्होंने मूल-मंत्र की भाँति ग्रहण कर लिया था। वे मानते थे कि हमारा सृजनहार सृजनकर्ता के रूप में अपने अनुरूप ही मनुष्य को गढ़ता है, अर्थात् मनुष्य को दैवी स्वभाव से सम्पन्न बनाता है। जब हम कहते हैं कि कला प्रकृति का प्रतिबिम्ब है तो उसका यही अर्थ होता है कि संसार की रचना-प्रक्रिया दैवी स्वभाव के अनुरूप ही होती है।

कुमारस्वामी के जीवन के अन्तिम वर्षों में उनके गुणग्राहक सुधीजनों ने उनसे आत्मकथा लिखने के लिए जब आग्रह किया तो उन्होंने लिखा कि भारतीय ज्ञान-गंगा का रसपान करने के बाद व्यक्तिगत चित्रण अस्वर्ग्य है। मेरा यह कथन किसी प्रकार के विनयाचार का नहीं, अपितु सिद्धान्त का सूचक है। ‘शुक्रनीतिसार’ के शब्दों में, प्रतिकृति-चित्र (Portraiture) को अस्वर्ग्य मानता हूँ। बाहरी जीवन में अपने आपको मिटाकर विचारों के क्षेत्र में आत्मा को सब प्रकार पुष्पित, फलित एवं लोक में प्रतिमण्डित बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। इस तरह कुमारस्वामी ज्ञान के पर्वत के जिस ऊँचे शिखर पर पहुँच गए थे, वहाँ संसार के अनेक ज्ञान-साधकों ने उन्हें मानवीय ज्ञान की सनातन एकता के प्रकाश को फैलाते देखा; इसी विश्वज्ञान को वे ‘*Philosophia Perennis*’ अर्थात् ‘सनातन धर्म’ कहा करते थे।

आनन्द कुमारस्वामी ने जीवन के अन्तिम वर्षों में कला, संस्कृति और इतिहास को छोड़कर अपना सारा समय वैदिक दर्शन-शास्त्र और अध्यात्म-विद्या में लगा दिया था, जिसके माध्यम से ‘आत्मा’ पर ग्रन्थ प्रकाशित कर सकें। कुमारस्वामी बारम्बार कहा करते थे कि जब कलाकार सर्वोत्तम दैवी चित्र तैयार करता है तो उसके जीवन का उद्देश्य पूरा हो जाता है, या जीवन का अन्त हो जाता है। ये शब्द उनके इस कार्य के फलस्वरूप चरितार्थ हो गए और वे अपने स्वरूप (परब्रह्म) में स्थित हो गए। कुमारस्वामी के अक्षय चिंतन का केन्द्र बिन्दु ‘सम्यक् दृष्टि’ है, और इस सम्यक् दृष्टि का आदि स्रोत परम्परा है; परम्परा में ही कला पल्लवित, संरक्षित और पोषित होती है। यदि इस कला-बोध का क्षरण हुआ तो भारतीय अस्मिता का विघटन हो जाएगा। आधुनिकता की वेगवान आँधी में प्रत्येक भारतीय को कुमारस्वामी की तरह अविचल खड़े रहने की जरूरत है, क्योंकि आधुनिकता ‘चार दिन की चाँदनी’ के समान है। आनन्द कुमारस्वामी की सत्तरवीं वर्षगाँठ के अवसर पर कलाविद् एरिक गिल ने जो शब्द उनके लिए प्रयोग किए हैं, उससे उन्हें सम्यक् श्रद्धांजलि दी जा सकती है—

“अन्य विद्वानों ने भी सत्य, जीवन, धर्म और मनुष्य के कार्यों के विषय में लिखा है, अन्यो को भी वाग्विदग्ध विवेचन की सामर्थ्य प्राप्त रही है, अन्य दार्शनिकों को भी हिन्दू, बौद्ध एवं ईसाई तत्त्वदर्शन का ज्ञान है, अन्य विद्वानों ने भी चित्रों एवं

मूर्तियों के सम्यक् आशय को समझा है, अन्यो ने भी सत्, चित् और आनन्द के सम्बन्ध को समझा है, अन्यो में भी प्रेम, उदारता एवं सहिष्णुता विद्यमान रही है तथा निस्सीम ज्ञान से सम्पन्न अन्य दार्शनिक भी हुए हैं। परन्तु, मैं ऐसे किसी दार्शनिक को नहीं जानता जिसमें सभी योग्यताएँ एवं शक्तियाँ एक साथ विद्यमान हों। मैं यह कहने की धृष्टता नहीं कर सकता कि मैं उनका शिष्य हूँ, क्योंकि कदाचित् वे मेरी यह स्वीकारोक्ति पसन्द न करें। मैं यह पुरजोर शब्दों में कहता हूँ कि आनन्द कुमारस्वामी के सिवाय और किसी दूसरे व्यक्ति ने सत्य, कला, जीवन, धर्म और धार्मिक आचरण के विषय में इतना गूढ़ ज्ञान इतनी समझदारी के साथ व्यक्त नहीं किया है।”²¹

संदर्भ

1. ‘रसने तृप्तः न कुतश्चनोनः। अथर्ववेद, 10.8.44.
2. ‘न रूपं पापवृत्तये। कुमारसम्भव, कालिदास ग्रन्थावली, लखनऊ, संवत् 2068.
3. विष्णुपुराण, 6.7.54.
4. वागर्थाविव पार्वतीपरमेश्वरौ। रघुवंश, 1.1.
5. तद्रूपं सर्वकिल्बिषम्। विष्णुपुराण, 6.7.73-74.
6. ध्यान वा खलु। शुक्रनीति, 4.4.71.
7. रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। ऋग्वेद, 6.47.18.
8. यस्यैव सोभिधीयते। विष्णुपुराण, 6.7.92.
9. विद्यानिवास मिश्र : तंत्र और कला, नई दिल्ली, 2015, पृ. 330.
10. आनन्दकुमारस्वामी : एसेज इन नेशनल आइडियलिज्म, नई दिल्ली, 1981, पृ.125-152.
11. आनन्द कुमारस्वामी : बगबियर ऑफ लिटरेसी, डोसोन, 1949, पृ. 32-45.
12. आनन्द कुमारस्वामी : ट्रांसफार्मेशन ऑफ नेचर इन आर्ट, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1934, पृ. 20-178.
13. तदैव, पृ. 147.
14. आनन्द कुमारस्वामी : क्रिश्चियन एण्ड ओरियंटल फिलॉसॉफी ऑफ आर्ट, डावर पब्लिकेशंस, 1991, पृ. 40.
15. तदैव, पृ. 52-53.
16. तदैव, पृ. 138-140.
17. तदैव, पृ. 91-108.
18. आनन्द कुमारस्वामी : दि डांस ऑफ शिव, बम्बई, 1956, पृ. 43-44.
19. तदैव, प्राक्कथन
20. आनन्द कुमारस्वामी : राजपूत पेन्टिंग, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1916, पृ. 23.
21. आर्ट एण्ड थॉट, कुमारस्वामी अभिनन्दन ग्रन्थ, लन्दन, 1947, पृ. 15.

नये भारत के निर्माण का भरोसा

अच्युतानन्द मिश्र*

उत्तर प्रदेश और उत्तराखंड विधानसभाओं के चुनावों में मिली ऐतिहासिक सफलता ने प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी के मन्त्र ‘सबका साथ सबका विकास’ पर मुहर लगाकर अभूतपूर्व भरोसा जताया है। नरेन्द्र मोदी की राजनीतिक लोकप्रियता तो शिखर पर है ही, लेकिन नये भारत के निर्माण और प्राथमिकताओं पर भी लोगों ने विश्वास जताया है। उनकी तुलना पंडित जवाहरलाल नेहरू और श्रीमती इन्दिरा गाँधी से की जाने लगी है। 1971 में पाकिस्तान से बांग्लादेश की मुक्ति के बाद इन्दिरा गाँधी को दुर्गा की छवि वाली नेता कहा गया था। उन्होंने लोकसभा का चुनाव भी प्रचंड बहुमत से जीता था। लेकिन 1974 तक आते-आते उनकी सफलता की लहर इतनी बिखर गई थी कि उन्हें देश पर आपातकाल लगाना पड़ा था। यह देश के इतिहास का सबसे काला अध्याय था। जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में पूरा विपक्ष जन आन्दोलन के लिए खड़ा हो गया। 2014 के लोकसभा चुनावों में पहली बार देश की जनता ने भारतीय जनता पार्टी के माध्यम से नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व को प्रबल समर्थन दिया था। आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक सुधारों के लिए पूरा रास्ता निष्कण्टक कर दिया गया। पिछले तीन वर्ष में मोदी ने एक नये भारत के निर्माण की जो रूप-रेखा प्रस्तुत की है, उससे देश के अन्दर और विदेशों में भी उनके साहसिक निर्णयों और सफलताओं की धाक फैल गई है। विमुद्रीकरण का निर्णय उनके अदम्य साहस और आत्मविश्वास का द्योतक था। विधानसभा चुनावों के परिणामों ने सभी राजनीतिक दलों, आर्थिक विशेषज्ञों, मीडिया के पंडितों की भविष्यवाणियों को शर्मसार कर दिया है।

महान भारत के निर्माण का पहला अवसर देश के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू को मिला था। 14 अगस्त, 1947 की रात को पंडित नेहरू ने ‘नियति से

* डॉ. अच्युतानन्द मिश्र, पूर्व कुलपति, माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय, भोपाल; पता : 419, रॉयल टावर्स शिप्रा सन सिटी, इन्द्रापुरम, गाजियाबाद (उ.प्र.), मो. 9560880055

साक्षात्कार' वाले अपने ऐतिहासिक भाषण में एक महान देश बनाने का सपना दिखाया था। एक खंडित और लुटे-पिटे देश के उत्तराधिकारियों के सामने पहली चुनौती राष्ट्रीय एकता, आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय देने की थी। इस लक्ष्य को पाने के लिए उस दौर के हमारे नेतृत्व ने अपने औपनिवेशिक शासकों की नीतियों को ही अपना आदर्श मान लिया। ब्रिटिश इंडिया ने भारत को आधुनिक बनाने का जो मनोलोक अपने प्रशासकों और बुद्धिजीवियों के माध्यम से तैयार किया था, स्वाधीन भारत के देशी शासकों ने भी उसी को आगे बढ़ाया गया। संविधान, लोकतन्त्र, शिक्षा, भाषा और औद्योगीकरण का मॉडल अंग्रेजों से और आर्थिक विकास की पंचवर्षीय योजनाएँ सोवियत संघ से ग्रहण की गईं। देश की आवश्यकताओं और प्रकृति से बिल्कुल उल्टा शिक्षा, साहित्य, सभ्यता से लेकर औद्योगीकरण और खेती पर भी पश्चिमी मॉडल लागू कर दिया गया। राजनीतिक उपनिवेशवाद का रूप बदलकर आर्थिक और सांस्कृतिक उपनिवेशवाद स्थापित हो गया। भारतीय इतिहास, संस्कृति, पुरातत्त्व, विज्ञान, भाषा, शिक्षा और साहित्य को हमारे ही समाज के अंग्रेजी पढ़े-लिखे बुद्धिजीवियों ने पिछड़ा और आधुनिकता तथा प्रगति-विरोधी घोषित कर दिया। हमारे बौद्धिकों को राष्ट्रीय स्वाभिमान से काटकर भूमंडलीकरण और उसके बाजार का समर्थक बना दिया गया।

विसंस्कृतिकरण के इस षड्यन्त्र में मार्क्सवादी इतिहासकारों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। विदेशों में कार्यरत भारतीय बुद्धिजीवी प्रबन्धन, विज्ञान चिकित्सा और तकनीकी शिक्षा में तो अपनी बौद्धिक क्षमता के अनुरूप भरपूर योगदान दे रहे हैं, लेकिन भारतीय शिक्षा, संस्कृति या इतिहास के क्षेत्र में उनका कोई योगदान नहीं है। क्योंकि उन्हें भारतीय संस्कृति और परम्पराओं की जानकारी नहीं है। भारतीय भाषाओं के विद्वानों में भी बौद्धिक मान्यता उन्हीं को प्राप्त होती है, जो अंग्रेजी शिक्षा विदेशी साहित्य, इतिहास, कला, समाजशास्त्र और मनोविज्ञान से परिचित हैं। इसलिए ये भारतीय विद्वान अपने समाज में भी सम्मानित नहीं हैं।

स्वाधीन भारत के सात दशकों की उपलब्धियाँ क्या हैं? स्वाधीनता संग्राम देश में लगभग दो शताब्दियों तक लड़ा गया। इस दौरान उच्चतम योग्यता और प्रतिभाशाली महापुरुषों ने साहित्य, संस्कृति, शौर्य, अध्यात्म, दर्शन, विज्ञान, कला और कानून के क्षेत्र में देश का क्रान्तिकारी मार्गदर्शन किया था। राष्ट्रीय चेतना और देशप्रेम भी सामाजिक और व्यक्तिगत दोनों स्तरों पर शिखर पर था, लेकिन स्वाधीन भारत में राष्ट्रीय महत्वाकांक्षाएँ क्षेत्रीय और स्थानीय हितों की प्राथमिकताओं के नीचे क्यों दब गईं? क्या स्वाधीन भारत की नयी पीढ़ी को राष्ट्रीय और सांस्कृतिक प्रेरणा का अनुष्ठान सौंपने के स्थान पर सत्तालोलुपता और कुटिल राजनीति में फँसा दिया गया? स्वाधीनता संग्राम के महापुरुषों की अन्तिम खेप, जो स्वाधीन भारत में भी दो-तीन

दशकों तक जीवित थी ने अपने अन्तिम दिन बेहद बेचैनी में बिताए थे। भारत विभाजन के बाद भारत सहित पूरी दुनिया में मानव-मूल्यों में गिरावट आई है। हिंसा, अन्याय, अनैतिकता और असत्य ही आधुनिक सभ्यता के केन्द्रीय मूल्य हो गए हैं। इसी आधुनिक सभ्यता को महात्मा गाँधी ने शैतानी सभ्यता घोषित कर 1909 में 'हिंद स्वराज' में चेतावनी दी थी। इस चेतावनी की उपेक्षा करके सत्ताधारी राजनेताओं ने देश-निर्माण के बुनियादी घटकों को ही नकार दिया था। फलतः एक नया सांस्कृतिक संकट उत्पन्न हो गया। संस्कृतियाँ देश, काल, परिस्थितियों के अनुरूप जन्म लेती हैं, लेकिन उनके आदर्श मूल्य और सत्य को स्वीकार करने का साहस-संकल्प समान होता है। पूरी मानवता के लिए समर्पित उनके आदर्शों की कथनी और करनी के बीच का अन्तर जब व्याख्याकारों और राजनीतिक शासकों में गहरा होने लगता है तो विचारधारा चाहे जितनी चमकदार हो, उसकी लोकप्रियता अस्थायी हो जाती है। समाज को बौद्धिक या राजनीतिक नेताओं की इस दुर्बलता की बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है। आधुनिक मनुष्य और मनुष्यता का यही सबसे बड़ा संकट है। यह संकट उन्हीं देशों और समाजों ने पैदा किया है, जो एक ओर मानवाधिकार और ग्लोबल विलेज का नारा दे रहे हैं और दूसरी ओर सम्पूर्ण पृथ्वी की सम्पदा, साहित्य, पहाड़, समुद्र और खनिज सम्पदा, धर्म, संस्कृति पर अपना एकाधिकार चाहते हैं।

आम चुनाव में 2014 में भारतीय जनता पार्टी को प्राप्त प्रचंड बहुमत और उत्तर प्रदेश विधानसभा के चुनाव में अप्रत्याशित जीत ने प्रधानमन्त्री नरेन्द्र मोदी से देश की अपेक्षाओं को अत्यधिक बढ़ा दिया है। वे केवल गरीबों के मसीहा या अद्वितीय राजनेता के रूप में स्थापित नहीं हुए हैं, बल्कि उन्होंने दावा किया है कि भारत की राजनीतिक संस्कृति की अब नयी दिशा होगी। सत्ता की राजनीति केवल वोटबैंक अर्थात् चुनाव जीतने की राजनीति न होकर राष्ट्रीय एकता, सम्प्रभुता कायम रखने वाली वास्तविक राष्ट्र नीति होगी। जातीयता, क्षेत्रीयता, पन्थिक राजनीति अब घटेगी। इन चुनावों ने यह सिद्ध कर दिया कि पूरे देश की जनता की निगाहें भाजपा से अधिक नरेन्द्र मोदी पर केन्द्रित हैं। पूरे देश की जनता खासकर युवाओं के साथ उनका सीधा संवाद है। स्वाधीन भारत के इतिहास में शायद पहली बार ऐसा हुआ है कि बिना किसी राष्ट्रीय मुद्दे के हुए क्षेत्रीय या स्थानीय नेताओं की तुलना में राष्ट्रीय नेता की बात पर लोगों का इतना भरोसा पैदा हुआ है। संसदीय लोकतन्त्र के अन्तर्गत राजनीतिक दलों, उनके प्रत्याशियों, क्षेत्रीय या स्थानीय अस्मिताओं पर चुनाव प्रभावित होते हैं और अगर बिना कोई स्थानीय चेहरा उतारे राष्ट्रीय नेता के नाम पर लोग, मतदान करते हैं तो वह संसदीय लोकतन्त्र का एक नया रूप है, जो अध्यक्षीय लोकतन्त्र का आभास देता है। लेकिन इस नयी राजनीतिक, सांस्कृतिक धारा को लोक-विश्वास की कड़ी अग्निपरीक्षा से गुजरना होगा। पिछले सात दशकों में कई

चुनावों में प्रचंड सफलताएँ मिल चुकी हैं, जो बाद में जनआकांक्षाओं की कसौटी पर खरी नहीं उतरें। मोदी को मिले इस जनविश्वास का भय तो विरोधी राजनीतिक दलों में व्याप्त हो गया है। उन्होंने 2019 की सम्भावित पराजय को स्वीकार करने का मन बना लिया है, लेकिन देखना है कि देश के सोलह राज्यों में चल रही भाजपा सरकारें आगामी दो वर्ष कैसे चलाई जाती हैं। क्या इससे सामाजिक समीकरणों में जमीनी स्तर पर कोई संरचनात्मक बदलाव आता है। तभी इतने बड़े जनादेश की सार्थकता है, जो समाज को जोड़कर राजनीति की नयी दिशा तय करेगी।

अज, खर एवं अश्व - ऋग्वैदिक सन्दर्भ

राजीव रंजन उपाध्याय*

जल यातायात की सुविधा के कारण ही प्राचीन सभ्यताएँ नदियों के तटों पर विकसित हुईं। नदी के पथ-परिवर्तन के फलस्वरूप सभ्यता का विकास केन्द्र प्रभावित होता रहा—परिवर्तित होता रहा। यातायात के विकास में जल मार्ग द्वारा नावों और पाल युक्त पोतों का अवदान उसी प्रकार महत्वपूर्ण है, जिस प्रकार स्थल मार्ग में यातायात में पशुओं का। यातायात के विकास में गति महत्वपूर्ण होती है। इसमें वृद्धि होने से कम समय में महत्वपूर्ण सम्पर्क और सामग्री एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाई जा सकती है। इसी कारण सभ्यता के विकास के साथ मानव द्वारा पशुओं के पोष्य बनाने का प्रयास किया गया। इन पशुओं में दुग्ध देने वाले और गतिमान जीवों-पशुओं की विशेष महत्ता रही होगी। आरण्य में तीव्र गति से दौड़ते हरिणों और छागों से उसका सम्पर्क इनके इसी गतिमान होने के गुण के कारण हुआ होगा। अन्ततः भारत में पुरावैदिक जनों ने अज को, छाग को गाय से पहले पोष्य बनाया होगा।

अज का अर्थ ही 'जो गतिमान है' होता है। पुरावैदिक जनों ने अज को सर्वप्रथम पालतू पशु बनाया, तथा गाय और अश्व को कालान्तर में। इसका स्पष्ट संकेत शतपथ ब्राह्मण (श. ब्रा. 7:5, 2, 16) में विद्यमान है। पुरावैदिक जनों ने अज और हरिण को उनकी तीव्र गति से दौड़ने की क्षमता का ध्यान रखकर उसे अजाश्व और चित्रित हरिण को पृषदाश्व कह कर सम्बोधित किया। यह भी सम्भव है कि वे अज का उपयोग सामान ले जाने के कार्य हेतु करते रहे हों, क्योंकि यह उन लोगों का प्रथम पोष्य पशु था। इसी के चौर्य के कारण ऋग्वैदिक काल में अधिकांश विवाद-होते थे—अजि (ऋ. 1:63, 2:34, 3, 4:17, 9) शब्द इसी का सूचक है।

* प्रो. राजीव रंजन उपाध्याय, 'विज्ञान', परिसर कोठी काके बाबू, देवकाली मार्ग, फैजाबाद-224001, मो. 09838382420, ई-मेल: rajeevranjan.f2d@gmail.com

अज का बलिदान मृतक की आत्मा को सूर्य-लोक में ले जाने में सहायक होता था, क्योंकि पुराकाल में इसकी धार्मिक कृत्यों को पूर्ण कराने में अहम महत्ता थी (ऋ. 1:162, 12) तथा इसकी मादा से उत्पन्न दुग्ध अजया से निकाला घृत यज्ञ में देवों को अर्पित किया जाता था। यह प्रथा (ऋ. 10:53, 2, 88, 4) गायों के दुग्ध की इस कार्य हेतु उपादेयता के उपरान्त भी प्रचलित रही।

प्रारम्भ में अजिन-अजचर्म वस्त्र के स्थान पर प्रयोग होता था जो कृतिवास (अधो वस्त्र) कहा जाता था। यह अजिन कालान्तर में कृष्ण मृग के चर्म के उपयोग से विस्थापित हो गया। अज की महत्ता का ज्ञान सूर्यवंशी नृप अज और वैदिक ऋषि अजमीढ़ के नामों से भी हो जाता है। आज भी जमुना पार की छाग या राजस्थान की छाग अपने गुणों के कारण जानी जाती है। वैसे छाग अथवा अज भारत से लेकर तुर्की तक व्याप्त है।¹

वैदिक देव परिवार में पूषन घुँघराले बालों वाले-कपर्दी हैं। वे दाँत विहीन हैं और सत्तू खाते हैं। उनके हाथ में स्वर्णिम वशी (बछी) है तथा उनका रथ अज खींचते हैं (ऋ. 6:55, 4, 6: 57, 3)। पूषन का दन्तविहीन होना उनके वैदिक परिवार में पुरातन सदस्य होने का, वृद्ध होने का संकेत है। उसी काल में सम्भवतः अज को पोष्य कर उपयोगी बनाया गया होगा, उस पुरा वैदिक काल में वे प्रतिष्ठित देव रहे होंगे। ऋषि भरद्वाज बार्हस्पत्य द्वारा पूषा देव की स्तुति ऋग्वेद के षष्ठ मंडल के सूक्त 53, से 58 में वर्णित है।

अज को इन्द्र एवं पूषा देव का पोष्य कहा गया है (ऋ. 1:162,2) इसी तथ्य को हित्तो-फोनीशियन सीलों तथा प्राचीन ब्रिटिश मुद्राओं पर अंकित देखा जा सकता है। इन पर हित्तियों को, गोथों को जो कालान्तर में योरप में अपने को स्थापित किए, अज-गोट (Goat) बकरी-छाग द्वारा हित्ती-सीलों में व्यक्त किया गया है।

पुराकाल में अज को अजाश्व के रूप में प्रयोग करने से सम्बन्धित ऋग्वेद के प्रथम मंडल 162 सूक्त का तीसरा मन्त्र स्पष्ट रूप से घोषित करता है—“एष छागः पूरौ अश्वेन-वाजिना पूष्णो भागो नियते विश्वदेव्य”। इस मन्त्र में अज पूषन देव द्वारा रक्षित है। पूषन सूर्य के स्वरूप हैं और अति प्राचीन वैदिक देव हैं। इस मन्त्र से यह भी ध्वनि स्पष्ट रूप से निकलती है कि प्रारम्भ में वैदिक जनों ने अज को पोष्य बनाया था तथा यह कृषि-कार्य से उनके परिचित होने के समय से प्रारम्भ हुआ होगा। इसका संकेत प्रजापति दक्ष के मानव सर के अज सर से विस्थापित होने वाले वर्णनों से स्पष्ट होता है (चित्र-1)। इस चित्र में प्रजापति दक्ष जो अज-सर हैं, कृषि भूमि में खड़े होकर आशीर्वाद दे रहे हैं। यह हलधर हित्ती तास—अब के भारतीय रूप हैं।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में “अग्नेयी वा इषा यात अजः” कहकर इसको अग्नि देव का रथ खींचने में उपयोगी होने का संकेत दिया गया है। इसी भाँति शतपथ ब्राह्मण में

अज को साक्षात् ब्रह्मा कहा गया है (शत. ब्रा. 6:4, 4, 15)। यहाँ अज शब्द में श्लेष है—जिसका अर्थ जो अजनमा है—वह ब्रह्मा है।

गौरांग, सूर्य के समान भास्वर, कन्धों पर भाला-ऋष्टि, पैरों में कड़े (पत्सु-खादि) वक्ष पर सुन्दर रुक्म और सर पर सुनहरे रंग की द्रापिधारी मरुत देव का रथ पृषाति चित्रित मृग खींचते हैं। यह मरुत देव स्वभाव से दौड़ते हुए वृषभ की भाँति क्रोधी हैं (ऋ. 5:52, 6 एवं सूक्त 52 के अन्य मन्त्र, तथा ऋ. 5 : 55, 6)।

ऋग्वेद के मरुत सम्बन्धी मन्त्रों में चित्रित मृग की गति को वेगवान मरुत देव से सम्बद्ध करने की कल्पना ने उन्हें कालान्तर में दौड़ने में मृग से कुछ ही न्यून छाग को पोष्य बनाने हेतु प्रेरित किया होगा। इसी तथ्य के कारण हित्तो-फोनीशियन द्रोजन और अन्य सीलों पर हरिण के संग सूर्य चक्र सहित छाग अंकित मिलता है।

इन पशुओं को पालतू बनाने के उपरांत पुरा वैदिक जनों ने उस समय के परिवेश में विचरण करते जंगली गर्दभ को पोष्य बनाया होगा। भारत की भाँति ही सभी प्राचीन सभ्यताओं में खर की, गर्दभ की, सामान ले जाने एवं सवारी के हेतु उपयोगी होने की चर्चा है। भारत में आज यह हास-परिहास का पशु कभी पूरा वैदिक जनों का प्रिय पोष्य पशु रहा होगा। इसी को उसकी दौड़ने की गति के कारण वे आसा (प्राकृत) (assa) और संस्कृत में अश्व कहने लगे।

हमें आज यह स्पष्ट रूप से ज्ञात है कि पुरा वैदिक जनों को अश्व (Equus Cabalus Linn) की जांगल्य और पालतू प्रजातियों का ज्ञान था।² ‘ऋग्वेद के मन्त्रों में खर और अश्व का अन्तर स्पष्ट नहीं होता है। तथ्यतः ऋग्वेद के प्रथम मंडल के 116 सूक्त के दूसरे मन्त्र में अश्विन द्वय के रथ को रसभ खर खींचते हैं—यह वर्णित है। यही ध्वनि अथर्ववेद के “गर्दभः स्थेनाम् अश्विना उजयाताम् (4, 9) मन्त्र में विद्यमान है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में (3:8, 9, 1) भी “अश्वः सर्वेषाम्-पशुम् श्रेष्ठम् गच्छति” की ही चर्चा है। क्योंकि पशुओं में उसकी गति सबसे अधिक है। ऋग्वेद में इन्द्रदेव के रथ को रसभ-खर द्वारा खींचने की चर्चा विद्यमान है (ऋ. 3:53,5)। इसी आसा (assa) तीव्रगामी पशुगामी पशु (प्राकृत) खर को अश्व मानने के कारण ही अनेक भारोयोरोपीय भाषा समुदायों में आसा अपने किंचित परिवर्तित रूप में विद्यमान है—पुरानी अग्रेजी assa/assen, गोथिक-asilus, डच-ezel, जर्मन-esel, आइस लैंडिक asni/asna, डेनिश-asen, लिथुआनियन-asilas, गैलिक-asal, वेल्श-asyn, लैटिन-asinus आदि।

गुजरात प्रान्त स्थित कच्छ का रण (Rann of Kutch) में जिस खर की प्रजाति (Equus hamionus Khur) आज पाई जाती है, इसी के पूर्वज पुराकाल की ‘रण’ जो अपने द्वीपों सहित वैदिक काल में अपेक्षाकृत गहरी थी और इसके पत्तनों से समुद्री

यातायात होता था, में स्वच्छन्दता से विचरण करता था। इसी तथ्य का उल्लेख करते हुए आर.एस. बिष्ट ने लिखा है—“यह कच्छ-रण एक समय में अरब सागर का भाग था तथा यहाँ से समुद्री यातायात इसके दक्षिणी और उत्तरी पत्तनों द्वारा संचालित होता था। यहीं से विख्यात व्यापारी जगदू शा के विशाल पोत सुवर्ण और अन्य व्यापारिक वस्तुएँ लेकर एक पत्तन से दूसरे रण स्थित पत्तन तक जाते थे।”³

वैदिकजन अपने खर रूपी ‘अश्व’ को इस कच्छ के ‘रण’ से लाते थे, जो जल से घिरा था, यह तथ्य वैदिक विवरणों से स्पष्ट हो जाता है। अश्व का जन्म जल से होता है—आपसु योनिः वा अश्वः (तै. ब्रा. 3:8, 4, 3) अदभ्यः हा वा अग्रे अश्वः संबाभुवुः (शत. प्रा. 5:1, 4,5), वारुणो हि देवत्या अश्वः, वारुणोवा अश्वः (शतः ब्रा. 7:5, 2, 6 एवं 2:3, 5, 3) वारुणो हि अश्वः (शत. ब्रा. 7:5, 2, 18), इसी कारण उच्छ्रवा का जन्म क्षीर सागर से हुआ, ऐसा वर्णित है। यह वास्तव में कच्छ के रण का क्षीर सर नामक एक पत्तन है और इसी को घोड़े वाली बाड़ी भी कहा जाता है — यहीं से इन खर रूपी “घोड़ों” का व्यापार होता था।”

ऋग्वेद में (1:163, 4) अश्व के जल से उत्पन्न होने की चर्चा है तथा शतपथ ब्राह्मण के अनुसार—“समुद्रा एव अस्य बन्धुः समुद्रायोनिः (शत. ब्रा. 10:6, 4, 1) अश्व की योनि समुद्र है—समुद्र उत्पन्न है अश्व।

राव के अनुसार “सिंधु नद की एक धारा प्राचीन काल में कच्छ के रण में गिरती थी। परन्तु 1819 में भूकम्प के प्रभाव के कारण इस धारा का प्रभाव अवरुद्ध हो गया, अतः इसका प्रवाह बन्द हो गया। पुराकाल में ‘नारा’ सरस्वती की एक धारा थी, जो कच्छ के अरब सागर में गिरती थी। उसी के द्वारा हड़प्पा के वैदिक जन विशाल पोतों से समुद्री पत्तन जो ‘रण’ में स्थित था क्षीर सागर-स्थित क्षीर सर तक पहुँचते थे और यह व्यापार का माध्यम था। इसी कारण सिन्धु से सम्बद्धता ने अश्व को सैन्धव नाम प्रदान किया था।

खच्चर भी अश्वतर था। अश्व से गति और बोझ को ले जाने में श्रेष्ठ था। इसी व्यापार के सम्बन्ध के कारण ही अथर्ववेद में (अथर्व. 3:15, 1) इन्द्र को भी वनिज कहा गया है तथा देवगण भी व्यापार में लगे थे (अथर्व 3:15, 5)। अश्व के भारतीय उद्भव के सन्दर्भ में विद्वान एक मत नहीं हैं। यद्यपि मार्शल को मोहनजोदड़ो के उत्खनन में अश्व की कुछ अस्थियाँ मिली थीं, परन्तु उन्हें इसके भारतीय अश्व (Equus caballus) की होने पर संशय था।⁶

मैकके को भी मोहनजोदड़ो से प्राप्त हुए मिट्टी के अश्व के प्रतिरूप के उपरान्त, उस स्थल पर अश्व के होने पर संशय था।⁶ एस. के. शर्मा के अनुसार स्वेल् और गुहा को भारतीय अश्व के दाँत (mandible) मोहेनजोदड़ो से प्राप्त हुए थे⁷ तथा भोलानाथ को हड़प्पा के उत्खनन में भारतीय अश्व की अस्थियाँ प्राप्त हुई थीं।⁸ इसी

भाँति अलूर को नियोलिथिक कैल्कोलिथिक स्तर से हालूर (Hallur) से भारतीय अश्व की अस्थियाँ मिली थीं⁹ तथा शर्मा ने¹⁰ पुनः भारतीय अश्व की अस्थियाँ मालवन की हड़प्पा कालीन स्थल से, प्राप्त होने की चर्चा की है। इसी प्रकार जे.पी. जोशी¹¹ को सुखोदाता-कच्छ से भारतीय अश्व (Equus Caballus Linn) के दाँत और इड्डियाँ (insisors, molars, cannon bones, first phalanx, third phalanx) प्राप्त हुई थीं इनको सैण्डोर बोकोनई Sandor Bokonayi ने भी भारतीय अश्व का माना है।¹²

वैदिक कालीन भारत में गान्धार भारतीय जनों का क्षेत्र था। इसी कारण जो अश्व यम ने त्रित को दिया था उस पर सर्वप्रथम इन्द्र आरूढ़ हुए और वल्गा गन्धर्वों ने पकड़ी थी। ऋषि के कथन के अनुसार “सूरादश्वं वसनों निरतृष्ट” वसुओं ने सूर्य मंडल से इस अश्व को निकाला (ऋ. 1:162, 2)।

पुनः इसी मंडल के एक अन्य मन्त्र में “स्वर्ण शृंग धारण कर सर्वप्रथम इन्द्र इस अश्व पर आरूढ़ हुए—“हिरण्य शृंगाऽयो अस्य पादा मनोजवा अवर इन्द्र आसीत्” इसके पैर दृढ़ और गति मन के समान वेगवान है। इस अश्व को देवताओं ने हवि के रूप में ग्रहण किया (ऋ. 1:163, 9)।

अथर्ववेद में भी गान्धार प्रदेशवासी गन्धर्वों द्वारा अश्व लाए जाते थे, की चर्चा है तथा शतपथ ब्राह्मण के अनुसार-अश्वमूच अविच उत्तराः (शत ब्राह्मण 7:5, 2, 15) अश्व और भेड़ उत्तर से जहाँ, इनकी बहुतायत है, लाए जाते थे।

यह तथ्य मध्य भारत और दक्षिण भारत से अश्व प्रजाति की अस्थियाँ और अन्य भागों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। कोलडिहवा तथा महागरा से प्राप्त अश्व-अवशेषों से स्पष्ट हो जाता है कि भारतवासियों का जांगल्य और पोष्य प्रजाति के अश्वों (Equus cabalus) से ई. पू. 6570 के पूर्व से परिचय था।¹²

अश्व की उपयोगिता इसकी तीव्र गति के कारण थी। दौड़ने में अन्य पोष्य पशु इससे न्यून थे तथा यह वैदिक जनों के सामान को भी आरूढ़ होने के अतिरिक्त ले जाने हेतु प्रयोग में लाया जाता था। युद्ध में इसका उपयोग सर्वविदित है। वैदिक वाङ्मय में अश्व से सम्बन्धित विविध शब्द हैं—

“अश्वो आत्यो असि मन्थो असि हयो असि बाजी असि स्पतिर असि, अर्व असि वृसिआ असि (तै ब्राह्मण 1:5:1)। अत्य जो गति से सबसे श्रेष्ठ है “आत्यो असि इति आह समाह सर्वन पशुन अति इति” (तै. ब्राह्मण 3:8, 9, 1)। मया अर्थात् जो यात्रा को सुखद और संरक्षित रखता हो—“यदि वै शिवम् तान मयाम् (तै. ब्रा. 2:2, 5,5) जो गति से ले जाता हो वह हय है—“हयो भूत्वा देवान आवाहत् (श. ब्रा. 10:6, 4, 1) जो तीव्र है वह वाजि है” वाजित वजिनावान” (निरुक्ति, 2 : 28) सप्ति गति सूचक है—“आसु स्पतिर इत्याह” (तै. ब्रा. 3 : 8, 13, 2), अर्व जो आयातित है—सम्भवतः अर्व अरब देश से। इस प्रकार वैदिक काल से ही भारतीय उद्भव के

अश्व का उपयोग रथ में, आरुढ़ होने में तथा भार वहन करने में होता था। उन्हें युद्ध में प्रयोग करने हेतु उचित प्रशिक्षण दिया जाता था, यह उनके गुणों को, रंगों को, उनके शरीर के निरीक्षण से जो पूर्ण स्वस्थ अश्व होते थे, उनका चयन करने के उपरान्त प्रारम्भ होता था।

अश्व विद्या पूर्ण रूप से विकसित भारत में ही हुई और इसमें निपुण व्यक्ति ही अश्व शिक्षक होता था। इसी सन्दर्भ में पं. भगवतदत्त ने अपने ग्रन्थ “वैदिक वाङ्मय का इतिहास” में लिखा है कि साम संहिता शालिहोत्र ही दशसहस्री अश्व-संहिता “शालिहोत्र” का रचयिता था। यह तथ्य स्वतः भारतीयों के अश्वों के रोग निदान-लक्षण आदि पक्षों के ज्ञान की घोषणा करता है।¹³

इस सन्दर्भ को विस्तार देने के पूर्व वैदिक पंचजनों में द्रुह्यजनों की चर्चा महत्वपूर्ण है। द्रुह्यजनों का विसंक्रमण जिसकी चर्चा विस्तार से अन्यत्र की गई है, सर्वप्रथम भारत से गान्धार और पुनः उत्तर के अन्य देशों में हुआ था। इन्हीं द्रुह्यजनों के वंशज तुरुषक देश-तुर्की के प्राचीन हिती जन थे, जिसके परिवार का विस्तार मध्य एशिया में तथा कालान्तर में पश्चिम की ओर बढ़ने पर पश्चिमी योरप में हुआ। इन्हीं द्रुह्यजनों के वंशज-1. हिती, 2. तोखारी, 3. इटैलिक, 4. केल्टिक, 5. जर्मैनिक, 6. वाल्टिक तथा 7. स्लोवानिक थे।¹⁴ सुनीति कुमार चटर्जी ने अपनी कृति में एक अतीव रोचक विवरण दिया है—

"The Latvian writer Fr. Malbergis actually wrote in 1856 that the Latvians like Russians and Germans came from the bank of Ganga. Another Latvian writer in 1859 put forward the same view. A wise people, BURTNIEKS, according to Latvian tradition, brought all science and knowledge to Latvia from India. In Latvian tradition, VIDEVUDS was a teacher of profound wisdom. The old Lithuanian priestesses, the VAIDILUTES used to tend the sacred fire as part of the old Indo-European Balt religious rite, and fire, as a modern Lithuanian poet suggested arrived in Lithuania from the banks of India."¹⁵

इस विवरण में शब्द BURTNIEKS में भारत की, वेद विदुस VEDEUVDS में वेदज्ञ तथा वेद विदुषी शब्द की प्रतिध्वनि शब्द VAIDEUTES में विद्यमान प्रतीत होती है।

इसी प्रकार लूवियन भाषा में अश्व a-su-wa अस्वा, मित्तानी में a-as-su-us (आसुउस), गोथिक में aihwa (अइहवा), तोखारिन B में Yakwe (याकवे), माइसीनियन में i-go (इ-गो), लैटिन में equus (इक्यस), वेनेटिक में eku (इक्यू), प्राचीन इंग्लिश में eoh (इवोह), आउलिश में epo (इपो), प्राचीन आयरिश में ech (इख) लिथुआनियन

में as va (अश्व) और ग्रीक भाषा में अश्व हिप्पो हो जाता है। संक्षेप में यह संस्कृत शब्द अश्व की शब्द-यात्रा है।

दशराज्ञ युद्ध के उपरान्त पुरुजनों से परास्त होकर अनुजनों ने आधुनिक ईरान क्षेत्र में अपना विस्तार किया।¹⁴ इन भारतीय ईरानियों के वंशज मित्तानी जन थे—जिन्होंने वैदिक मान्यताओं को सीरिया और प्राचीन पलेस्तीन क्षेत्र में विकसित कर अपना साम्राज्य स्थापित किया। इनमें अधिकांश राजाओं के नाम वैदिक हैं।¹⁶

इसी भाँति मित्तानी नृपों के भी नाम वैदिक हैं। इनके प्रथम राजा का नाम कीर्त (कीर्ति) था, जिसने इ.पू. 1500-1490 तक शासन किया। इसके बाद शुत्तर्न प्रथम (शत्रुघ्न), बरत्तर्न (भरत), पर्शत्तर्न (सम्भवतः वर्त्तन का दूसरा रूप), शैशतर्न, अर्ततम (प्रथम) (ऋततम), तुशरथ (दशरथ), शुत्तर्न (तृतीय) (शत्रुघ्न) शक्तिवज्ज अथवा मत्तिवज्ज (शक्ति व्रज) (दशरथ का पुत्र) शुत्तर्न, वसष्ठ (वसिष्ठ) आदि के नाम हैं, जो संस्कृत उद्भव के हैं। दशरथ की बहन (भगनी) गिलुहेप या गिलुखिय (गुरु अथवा कुरु कृपा) मिस्र के राजा (फराओ) अमेनहातेप तृतीय की रानी थी। कालान्तर में दशरथ की पुत्री तदुहिब अथवा तदुरिवप (तत्कृपः) भी उसकी रानी बनी।¹⁷

इन्हीं मित्तानियों के राजा और हितियों के नृप के मध्य जो सन्धि हुई थी, उसमें वैदिक देव मित्र, वरुण, इन्द्र तथा नास्तियों (आश्विन द्वय) को साक्षी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। मूल लेख को पाठकों की सूचनार्थ दिया जा रहा है—“इलानि-मि-इत-र-अश-शि-इल इलानि अर-वन अ-शि-एल अ-रु-न-अशि-शि-इल इलु-इन-दर-इलानि न-श-आ-ति इअ-अन-न”

इसका पूर्ण पाठान्तर निम्नवत होगा—

इलानि मित्र अशिइल। इलानि अशिइल। इलु इनदर। इलानि नासत्तियन।

इसका संस्कृत रूपान्तर इस प्रकार होगा—

इलानि मित्रः अस्मत् इलः। इलानि वरुणः अस्मत् इलः।

इल इन्द्रः। इलानि नासत्यानि।

आश्चर्यजनक रूप से उक्त सन्धि में वैदिक देवों का वर्णन जिस क्रम में हुआ है, ऋग्वेद के मन्त्र में वे इसी क्रम में वर्णित हैं—

अहं भिवावरुणोभा विभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥ ऋ. 10:125,1

इन्हीं मित्तानी नृपों के देश में रहने वाले अश्वपाल, अश्व-शिक्षक अश्वपालन पर लिखी अपनी पुस्तक का प्रारम्भ इन शब्दों में करता है—मैं कुरु-मित्तानियों के देश का वासी अश्व-शिक्षक किककुलि यह कहता हूँ (उम-म कि-इक-कु-लि-अ- अश-शु-उश-श अन-नि-श-कर-मि-इत न-अन-नि)। यह ग्रन्थ 1080 पंक्तियों में 4 मिट्टी की पक्की सीलों पर लिखा गया है। इसमें अश्व की वर्तन (एक चक्कर) के लिए संस्कृत के ही

शब्द प्रयोग किए गए हैं—ऐग (एक) तेर (त्रि), पंज (पंच), सत्त (सप्त), नाव (नव)। इसी प्रकार अश्वों के रंगों की चर्चा एक अन्य सील रूपी पुस्तक में ब्रवन्नु (बभ्रु-भूरा), परितन्नु (पलित-धूसर) और पिकरन्नु (पिंगल-पीला) आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है।¹⁷ महाभारत में राजा विराट से अश्वों के विषय में नकुल कहते हैं—

अश्वानां प्रकृति वेधि विनयं चापि सर्वशः।

दृष्टानां प्रति पत्तिं च कृत्स्नं चैव चिकित्सतम्।

(महाभारत विराट पर्व, द्वादश अध्यायः 7)

इसी प्रकार श्रीकृष्ण भी अश्वचालन और चिकित्सा कर्म में कुशल थे। स्पष्ट है कि वैदिक काल से ही अश्वपाल, अश्व-लक्षण और चिकित्सा में निपुण होते थे।¹⁸

ऋग्वेद के मन्त्रों (1:34,9 तथा 1:162, 21) से ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में खर एवं अश्व एक साथ रथ को खींचते थे तथा अश्व खर की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होने के कारण रथ में दाहिनी ओर रहता था—

“यात्रा रथस्य बृहतो निधानं विमोचनं वाजिनो रसभस्या॥

(ऋ. 3:53, 5)

परन्तु यह परम्परा कालान्तर में समाप्त हो गई और रथ में मात्र अश्व ही प्रयोग में लाए जाने लगे।

अश्व से ही सम्बन्धित अश्वमेघ यज्ञ है। विद्वानों की अवधारणा है कि इस विचार का प्रस्फुटन वैदिक देव अश्विन के उद्भव के उपरान्त ही हुआ होगा। अश्विन-नासत्य के रूप में प्राचीन पश्चिम एशिया के अभिलेखों में विद्यमान हैं। यह तथ्य इंगित करता है कि वैदिक देव-परिवार भारत से विसंक्रमित दुह्यु और अनु जनों, भृगुजनों तथा उनके वंशजों द्वारा इस समस्त क्षेत्र में राज्य स्थापित किए गए। पर स्थान परिवर्तन के कारण क्षेत्रीय प्रभावों के चलते उनकी उपासना और मान्यताओं में परिवर्तन हुआ। इसी कारण आश्विन-अश्वमेघ से सम्बद्ध मान्यताओं में अन्तर स्पष्ट दिखता है। भारत के प्रति कुंठाग्रस्त विद्वानों की दृष्टि इस सन्दर्भ में भी स्पष्ट बिम्बित होती है।

अश्वमेघ यज्ञ के सन्दर्भ में एल्ब्राइट और दुरान्त द्वारा दिए विवरण रोचक हैं—

The horse sacrifice, it is suggested was of Indo-Iranian, if not Indo-European origin. This suggestion is unquestionably valid in a certain measure. We know that on arrival at the Strymon, Xerxes had white horse sacrificed by the magicians. We know from Greek literature of the sacrifice at Roads and on mount Tagytus in Arcadia. Festus gives us information of the annual sacrifice of a horse at Rome and with a ritual patently

vegetative character. But none of these offerings bear any close analogy to the vedic horse sacrifice, which marks the priestly development of what was doubtless in origin a much simpler rite. Still less analogous is the earliest archaeological illustration of the sacrifice in question, which is ascribed to Indo-Iranian out posts in southern Palestine dating from the seventh century B.C. for in it we have horse sacrificed in the shade of their masters and buried with them in the tomb (Pere-Ancient Gaza, I. 1931, p.p. 3-5). The closest parallel in Mesopotamia to this offering is found in a ritual text from Assu, the southborn capital of Assyria, which is interpreted to the offering of horse, which is to be hitched to the chariot of great God Madruk. The ritual seems to have been originally connected with offering of an Ass and may be assigned to the period from 2100-1800 B.C., an earlier date being precluded by the importance of Babylon which prior to the first Dynasty was of negligible importance. The substitution of the horse was introduced and a date in the second millennium is suggested.¹⁹

यहाँ देव मारुक् की चर्चा है, जिनके रथ में खर-रसभ लगाया जाता था। यह देव मारुक्-मरुत का अपभ्रंश है जो वैदिक देव परिवार और उनके सदस्यों की उपासना को उस क्षेत्र में स्थापित करता है।

बैबीलोन में प्रचलित अश्वमेघ परम्परा के सम्बन्ध में कीथ ने लिखा है—“भारतीय अश्वमेघ-विधान और बैबीलोनियन विधान में आश्चर्यजनक समानता है। दोनों में पुरोहित अश्व के कान में मन्द स्वर में मन्त्र पाठ करता है, जिसे मात्र अश्व ही सुन सकता है। दोनों के मन्त्रों में अश्व की स्तुति की जाती थी। दोनों में अश्व को आदित्य के मार्ग पर गमन करने को प्रेरित किया जाता था। बैबीलोनियन परम्परा में अश्व को मारुक् का रथ भी खींचने के लिए कहा जाता था। इस प्रकार जहाँ वैदिक विधान में अश्व को सूर्य पथ का अनुगामी कहा जाता था वहीं पर बैबीलोन की परम्परा में अश्व रूपी खर मारुक् का रथ खींचता है।”¹⁹

इस सन्दर्भ में कीथ का भ्रम अपने को आर्य कहने वाले जन जो भारत में प्रविष्ट हुए थे, के संदर्भ में स्पष्ट है। पर यह उसका विचार था।

हितियों के रथ में दाहिने ओर अश्व रहता था तथा उसके बाएँ खर को लगाया जाता था। यही परम्परा रोमनों में भी प्रचलित थी। मालोरी के अनुसार अश्वमेघ हेतु रथ में जुते शक्तिशाली अश्व को इस कार्य के लिए चुना जाता था और यह परम्परा रथ को चक्र-पहिए के निर्माण और विकास के उपरान्त 2500 ई. पू. के आस-पास

विकसित हुई होगी।²⁰ सूत्रकाल के गणितज्ञ बौधायन द्वारा प्रतिपादित रथ-चक्र निर्माण विधि को ध्यान में रखते हुए, मालोरी के कथन से सहमत हो पाना कठिन है, क्योंकि पश्चिम एशिया में रथ 2000 ई. पू. के आस-पास प्रचलित हुआ, जबकि भारत में यह ऋग्वैदिक काल से प्रयोग हो रहा था।”

हितियों के रथ (चित्र-3) में अश्व एवं खर के उपयोग की भाँति रोमनों में अश्व के साथ रसभ-स्वर को बाईं ओर लगाने की प्राचीन विधि ऋग्वेद के मन्त्र (ऋ. 3:53,5) में विद्यमान है, क्योंकि भारतीय उद्भव के अश्व को रथ में लगाने की प्रथा के साथ ही, वैदिक जनों के भारत से विसंक्रमित होने से यह परम्परा एशिया और योरप में पहुँची।

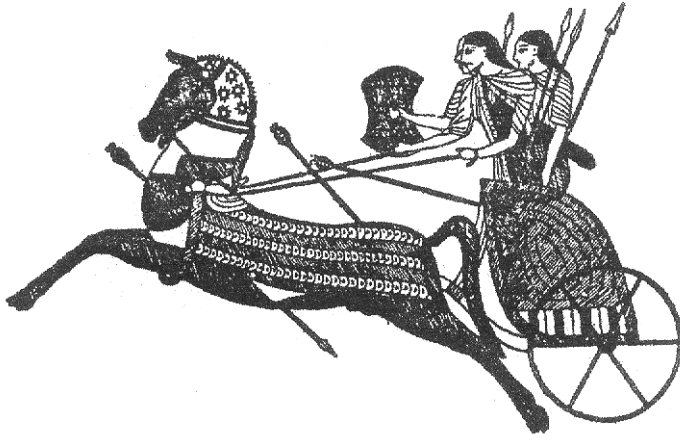
सन्दर्भ :

1. भगवान सिंह : द वैदिक हड़प्पन्स, आदित्य प्रकाशन, F 14/65, माडल टाउन-2, दिल्ली-110009, 58, 1995
2. (क) अलूर के.आर. : स्केलेटल रिमेन्स (वर्टीकल), प्रोटो-हिस्टोरिक कल्चर्स ऑफ द तुंगभद्रा वैली-धारवाड़, 1971
शर्मा, ए.के. : एविडेन्स ऑफ हार्स फ्रॉम द हड़प्पन सेटलमेंट ऐट सुरकोटदा-पुरातत्त्व 7,75-76, 1974
शर्मा, ए.के. : हड़प्पन हॉर्स वाज बरीड अंडर द डुन्स ... पुरातत्त्व, 23, 30-34, 1992-93
(ख) सेठना, के.डी. : द प्राब्लम ऑफ आर्यन ओरिजिन्स : फ्रॉम एन इंडियन प्वाइंट ऑफ व्यू, आदित्य प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1992, पृ. 278
3. बिष्ट, आर. एस. : हड़प्पन कॉलोनाइजेशन ऑफ कच्छ : एन इकोनॉमिक स्टडी विद रिफरेन्स टु धौलावीरा एंड सुरकोटदा हिस्ट्री एंड आर्ट, सं. श्रीकृष्णदेव एंड लल्लन जी गोपाल, सम्पादक-266-272, 1989
4. राव, एस. आर. : डान एंड डेबोल्यूशन ऑफ द इंडस सिविलाइजेशन, नयी दिल्ली, पृ. 100, 162, 1991
5. मार्शल, जॉन : मोहनजोदरो एंड द इंडस सिविलाइजेशन, 3 खंड, लन्दन, 1931
6. मैकके : प्लेन एंड पेंटेड पॉटरी विद टेबुलेशन—जॉन मार्शल द्वारा सम्पादित—मोहनजोदरो एंड इंडस सिविलाइजेशन, के अध्याय 11, 16, 17, 18 और 19, 1931
7. शर्मा, ए.के. : इवीस ऑफ हॉर्स फ्रॉम द हड़प्पन सेटलमेंट ऐट सुरकोटदा पुरातत्त्व, 7, 75-76, 1974
8. भोलानाथ : रिमेन्स ऑफ हॉर्स एंड एलीफेंट फ्रांस द प्री-हिस्टोरिक साइट ऑफ हड़प्पा, वेस्ट पाकिस्तान, प्रोसीडिंग्स ऑफ फर्स्ट ऑल इंडिया काँग्रेस ऑफ जुआलोजिस्ट्स, 2. साइंटिफिक पेपर्स, 1-14, 1953

9. अलूर के.आर. : स्केलेटल रिमेन्स (बरटीब्रटेस) प्रोटो हिस्टोरिक कल्चर ऑफ तुंगभद्रा वैली-धारवाड़ एंमुंडसन रोनाल्ड एवं एलीसे रोनाल्ड 1971
10. शर्मा, ए.के. : “एनीमल बोन रिमेन्स” इन जे.पी. जोशी, 1990 एक्सकेवेशन ऐट सुरकोटदा 1971-1972 एंड एक्सप्लोरेशन इन कच्छ-1990, दिल्ली
11. जोशी, जे.पी. : एक्सप्लोरेशन इन कच्छ एंड एक्सप्लोरेशन ऐट सुरकोटदा : जरनल ऑफ ओरियंटल इंस्टीट्यूट, वाल्यूम 22, नवम्बर, 51-52 (Sept.-Nov. 1972) बड़ौदा, 137, 1972
12. राजाराम, रवरत्न एंड फ़ाले, डेविड : वैदिक आर्यन एंड ओरोजिन ऑफ सिविलाइजेशन, चतुर्थ संस्करण, वायस ऑफ इंडिया, 2118 अंसारी रोड, नई दिल्ली-2, पृ. 243, 2014
13. पं. भगवतदत्त : ‘वैदिक वाङ्मय का इतिहास’ प्रथम भाग, प्रकाशक विजय कुमार गोविन्दराम हासानन्द 4480, नयी दिल्ली-110006, संस्करण, 2008, पृ. 249
14. तलागैरी, श्रीकान्त, जी : द ऋग्वेद-ए हिस्टोरिकल एनालिसिस, आदित्य प्रकाशन, F-14/65, मॉडल टाउन, II दिल्ली-99, संस्करण-2004, पृ. 262, 266
15. चटर्जी, सुनीति कुमार : बाल्ट्स एंड आर्यन्स इन दियर इंडो-यूरोपियन बैकग्राउंड, शिमला, 1968, पृ. 23-24
16. त्रिपाठी, दयानाथ : आर्कियालोजी एंड ट्रेडीशन : ए स्टेडी ऑफ सम इंडो-आर्यन नेम्स ऑफ वेस्टर्न एशिया—पृ. 55-56 रामानन्द विधान भवन J3/227 D.D.A. Flats कालका जी नयी दिल्ली-1100019, 1988
17. वर्मा, ठाकुर प्रसाद : विश्व इतिहास में कुरुवंश, इतिहास उर्पण, 17 (1), 10-23, 2012
18. महाभारत : गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. 2024
19. कीथ, आर्थर : बैबीलोन एंड इंडिया-कम्पूस्वामी शास्त्री, कमोमेमोरियम वाल्यूम, मद्रास, 1947, पृ. 67-72
20. मालोरी, जे.पी. : इन सर्च ऑफ इंडो योरोपियन्स 1989, पृ. 136



चित्र : 1. कृषि भूमि में खड़े-आशीर्वाद देते अज-सर प्रजापति दक्ष



चित्र : 2. ब्रिटिश जनों द्वारा युद्ध हेतु व्यवहृत रथ का पूर्वज हित्तो-फोनीशियन रथ Abydos रिलीफ

धर्माचार्य ही हैं भारत के अभिजन

प्रो. रामेश्वर मिश्र 'पंकज'*

किसी भी समाज में संस्कृति और विद्या के क्षेत्र में जो प्रवाह चलता है, उसी से समाज पहचाना जाता है और परिभाषित होता है। संस्कृति और विद्या का क्षेत्र एक विशाल क्षेत्र है और इसमें विशिष्ट पुरुषार्थ करना विरले लोगों का ही काम होता है। सारे संसार में ऐसे लोगों को सम्बन्धित समाज के अभिजन या एलीट कहा जाता है। विद्या के विशाल विस्तार में अग्रिम पंक्ति में रहने वाले लोग अभिजनों के विचार-जगत को रचते हैं, शासन के शिखर पर रहने वाले लोग अभिजनों की राजनीतिक मान्यताओं का सृजन करते हैं और राष्ट्र-जीवन या समाज-जीवन के विविध क्षेत्रों में प्रभावशाली हैसियत रखने वाले लोग अभिजनों की नीति-सम्बन्धी मान्यताओं का निर्धारण करते हैं।

इसे इन दिनों भारत के सन्दर्भ में यूरोप का उदाहरण लेकर ही शिक्षित लोग सरलता से समझ पाते हैं, अतः वही उदाहरण लेना होगा। यूरोप में शताब्दियों तक ख्रीस्तपन्थी पादरी ही वहाँ के अभिजन मान्य रहे, परन्तु वित्तीय क्षेत्र में वास्तविक अभिजन केवल यहूदी लोग ही रहे। इन यहूदियों से यूरोप के आर्थिक क्षेत्र में बढ़त की इच्छावाले ख्रीस्तपन्थी लोग प्रायः ईर्ष्या रखते थे और इनको मारने, जलाने, लूट लेने और नष्ट कर देने के लिए वे लोग एक विचित्र-सा तर्क रचते थे कि जीसस को सूली पर चढ़ाने वाला राजा यहूदी था, इसलिए ये यहूदी महापापी हैं और हमें इन्हें नष्ट कर डालना चाहिए।

अब मुश्किल यह है कि यह नितान्त झूठ है। जीसस को सूली पर चढ़ाया था रोमन राजा ने। परन्तु रोमनों का तो ख्रीस्तपन्थी कभी कुछ नहीं बिगाड़ सके। उल्टे रोमनों की यशोगाथा ही यूरोप के लोग आज तक गाते हैं, अतः एक झूठ रचकर अपनी ईर्ष्या को अभिव्यक्ति दी गई है। कई सौ वर्षों तक यूरोप में यहूदियों का भयंकर, बर्बर दमन हुआ और उन्हें तरह-तरह से सताया गया। परन्तु तब भी आर्थिक

Email:- prof.rameshwar@gmail.com Mob. No.:- 09425602596

क्षेत्र के अभिजन आज तक यूरोप में यहूदी लोग ही बने हुए हैं। यही नहीं, विज्ञान और मानविकी के क्षेत्रों में भी अनेक यहूदी अत्यन्त प्रभावशाली हुए और उन्होंने यूरोप के चित्त को गढ़ा। इनमें आइंस्टाइन, कार्ल मार्क्स और सिगमंड फ्रायड उल्लेखनीय हैं। अनेक यहूदियों ने प्राणदंड के भय से ख्रीस्तपन्थ अपनाकर भी अपना काम जारी रखा और प्राचीन यूरोपीय, विशेषतः यवन क्षेत्रीय और रोम क्षेत्रीय चित्रों तथा अन्य कलाकृतियों और कतिपय पुस्तकों को ढूँढ़कर उन्हें धीरे-धीरे यूरोपीय नवजागरण के आधार के रूप में प्रस्तुत किया, जिससे लगभग 200 वर्षों में यूरोप से ख्रीस्तपन्थ का वर्चस्व मिट गया। नवजागरण की प्रेरणा से यूरोप के लोग दुनिया-भर में निकले, उन्होंने विश्व की अनेक सभ्यताओं की जानकारी प्राप्त की। उन जानकारियों के आधार पर अपने यहाँ वैज्ञानिक प्रगति की और मध्ययुग की अनेक मान्यताओं को पिछड़ी और बर्बर मानकर त्याग दिया। यही लोग नये यूरोप के अभिजन बने।

भारत में ब्रिटिश प्रभाव के प्रसार के साथ यहाँ भी एक छोटा-सा वर्ग ऐसा पनपा, जिसने ख्रीस्तपन्थ के प्रभावों को आत्मसात कर स्वयं को एक नए अभिजन की तरह प्रस्तुत करने का प्रयास किया। स्पष्ट है कि यह वर्ग न केवल छोटा था, अपितु इसे भारत की व्यापक जानकारी भी नहीं थी। परन्तु राजनीतिक छल और कूटनीति में यह निपुण होता गया और इसने भारत के देशभक्त वीरों के दबाव का प्रयोग कर अंग्रेजों से गुप्त सन्धियों के द्वारा सत्ता हस्तान्तरण का पथ अपने लिए प्रशस्त किया। इनमें जवाहरलाल नेहरू तथा उनके अन्य साथी सबसे अग्रणी थे। राजनीतिक दृष्टि से सर्वाधिक चतुर श्री जवाहरलाल नेहरू सिद्ध हुए और उन्होंने ब्रिटिश भारत से अंग्रेजों की विदाई के अवसर का लाभ उठाकर तथा देश-भर में फैली प्रचंड देशभक्ति की भावना का उपयोग करते हुए उसे अपने पक्ष में मोड़ा और साथ ही अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर नई उभरी शक्ति-सोवियत संघ तथा कम्युनिस्ट आन्दोलन से साँठगाँठ कर बलपूर्वक भारत में एक नया अभिजन रचने की पहल की। इसमें ब्रिटिश भारत के वे लोग जो ब्रिटिश शासन के शीर्ष अधिकारी थे, अथवा ऐसे लोग जो ब्रिटिश भारतीय शिक्षा में अग्रणी थे, उन्होंने यूरोपीय ज्ञान के प्रति ही प्रमाण-भावना पालने के कारण इस नए अभिजन वर्ग के उन्मेष में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

परन्तु इसमें अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो गईं। सम्पूर्ण भारत में फैलाए गए ब्रिटिश भारतीय ढाँचे का लाभ उठाकर यह नया अभिजन वर्ग अत्यन्त शक्तिशाली तो होता गया, परन्तु इसके सामने पहचान का गम्भीर संकट उत्पन्न हो गया। उसका कारण यूरोप के अभिजन थे।

यूरोप के अभिजनों की मुख्य विशेषता यह रही कि उन्होंने सदा अपने ही प्राचीन ज्ञान की निरन्तरता में स्वयं को प्रस्तुत करने का प्रयास किया। इसके लिए उन्हें बहुत-से मिथक रचने पड़े और प्रायः अतिरंजनाओं और असत्यों तक का सहारा लेना पड़ा। उन्होंने अपने इतिहास के सभी अन्धकारमय पक्षों को ढँक दिया, जिस दौर

को ढँकना असम्भव हो गया, सात-आठ सौ वर्षों के उस पूरे दौर को 'अन्धकार युग' कहकर उससे अपना पल्ला झाड़ लिया, परन्तु दूसरी ओर उसी अवधि के बारे में काल्पनिक गौरव के भाँति-भाँति के किस्से रचते रहे और अपने ज्ञान की जड़ें उसी अवधि में बताते रहे। उन्होंने भारत और चीन से जो कुछ सीखा, उस सबको वे स्वयं यूरोप के ही अतीत में विद्यमान बताने की कोशिश करते रहे। इसके लिए उन्होंने अपनी भाषाओं में विशाल साहित्य रचा, जिसमें गप्पों और अतिरंजनाओं का भी बहुत बड़ा स्थान था। इसके साथ ही विद्वत्-विमर्श में उन्होंने ऐसी पदावली अपनाई, जो केवल यूरोप को अपना सन्दर्भ बनाती है। यूरोप के सभी विद्वत्-विमर्श यूरोपीय अतीत और यूरोपीय परम्पराओं को ही अपना मूल सन्दर्भ बनाते हैं और उसकी ही नई-नई व्याख्या करते हैं। इस क्रम में उन्होंने विगत डेढ़ सौ-दो सौ वर्षों में रचे गए यूरोपीय साहित्य को विश्व-साहित्य की तरह प्रस्तुत करने का प्रयास किया। यह विश्व में बौद्धिक आधिपत्य स्थापित करने की उनकी सुचिन्तित कोशिश है। इसी अर्थ में वे यूरोपीय समाज के अभिजन हैं।

अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीय अभिजनों के नए वर्ग की मुश्किल यहीं से शुरू होती है। वे यूरोपीय अभिजनों की नकल करते हैं। इसके लिए यूरोप में रचित आधुनिक पुस्तकों को ही पढ़ते और पढ़ाते हैं, उन्हीं के आधार पर बहसें और चर्चाएँ करते हैं और उन्हीं को ज्ञान के लिए प्रमाण तथा अधिकारी मानते हैं। परन्तु केवल यूरोपीय सभ्यता पर गर्व करने पर वे किसी भी प्रकार भारतीय अभिजन नहीं रह पाएँगे, यह तथ्य जानते हुए वे भारतीय सभ्यता के इतिहास को यूरोप की अनुकृति बताने का प्रयास करते हैं। परन्तु इससे कई मुश्किलें पैदा होती हैं। मुख्य मुश्किल तो विचारों के जगत में ही आती है। यूरोप का अभिजन अपने ही शास्त्रों और अपने ही विद्वानों को अपना सन्दर्भ बनाता है। यह अभिजनों का विश्व-व्यापी लक्षण है। भारत के नए अभिजन इसकी नकल कैसे करें? अगर वे भारतीय शास्त्रों को और भारतीय विद्वानों को मूल सन्दर्भ बनाते हैं तो वे एक क्षण बौद्धिक स्तर पर खड़े नहीं रह सकते। अगर वे यूरोपीय शास्त्रों और भारत में यूरोपीय शास्त्रों के अनुवादकों को अपना सन्दर्भ बनाते हैं तो वे स्वतः तरस के पात्र बन जाते हैं। गहरे में उनके भीतर एक कुंठा और हीनता भर जाती है। इसके लिए वे राज्याश्रय का सहारा अवश्य लेते हैं, परन्तु विचारों और विद्या की दुनिया में राज्याश्रय की भूमिका बहुत सीमित होती है।

दूसरी समस्या यह है कि वस्तुतः भारत की अपनी विद्या परम्परा कभी भी बहुत क्षीण नहीं हुई और आज भी विशेषतः मानविकी विद्याओं के क्षेत्र में भारत के शास्त्र सम्पूर्ण यूरोप के शास्त्रों से संख्या में बहुत अधिक हैं और गुणवत्ता में भी कुछ कम नहीं हैं। इस विद्या परम्परा के विशेषज्ञ और अग्रणी लोग भी भारत में बड़ी संख्या में हैं। विशेषतः धर्म, अध्यात्म और संस्कृति के क्षेत्र में भारतीय विद्या परम्परा में दक्ष लोगों की विराट संख्या विद्यमान है। ये ही भारत के वास्तविक अभिजन हैं। इनके सामने

भारत के वे नए अभिजन, जो वस्तुतः आधुनिक यूरोप के नियोग से उपजे हैं, काफी बौने और दयनीय नजर आते हैं। वे भारतीयता की बात करने को मजबूर हैं, परन्तु उनकी सारी बात या तो यूरोपीय लेखकों की लिखी पुस्तकों पर आधारित होती हैं या फिर उन पुस्तकों के अनुवाद के रूप में भारतीय भाषाओं में लिखी पुस्तकों पर आधारित होती हैं। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में वे द्वितीय श्रेणी के बौद्धिक नजर आते हैं।

एक समस्या और भी है। आधुनिक भारतीय राजनीतिक दलों के नेता भारतीय समाज से ही आते हैं। और कोई रास्ता भी नहीं है। ऐसी स्थिति में भारतीय समाज की अपने धर्माचार्यों पर और अपनी शास्त्र-परम्परा पर जो गहरी श्रद्धा है, उसका उपहास उड़ाने की उनकी हैसियत नहीं बनती। इस प्रकार भारत के हिन्दू धर्माचार्य भारत के वास्तविक अभिजन बने रहते हैं और उनकी चमक ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। इसीलिए हम पाते हैं कि प्रशासनिक सेवाओं, सैनिक सेवाओं, पुलिस सेवाओं और न्यायिक सेवाओं के उच्चतम पदों से मुक्त हुए भारतीय भी किसी-न-किसी भारतीय धर्माचार्य के प्रति गहरी श्रद्धा अवश्य रखते हैं।

यह बात जहाँ उनकी भारतीयता का प्रमाण है, वहीं इसी प्रक्रिया में भारत के वास्तविक अभिजनों की महिमा और गौरव बढ़ता ही जाता है। इस स्थिति में कई पेंचीदगियाँ पैदा हो रही हैं। काँग्रेस वस्तुतः भारत के राजनीतिकर्मियों की एक महासभा थी। यह ठीक है कि उसमें श्री नेहरू ने कम्युनिज्म और ब्रिटिश भारतीय मान्यताओं की एक अजीब-सी खिचड़ी पकाकर एक नकली अभिजात वर्ग रचने का अद्भुत प्रयास किए। परन्तु राष्ट्रव्यापी दल होने के कारण काँग्रेस में सभी प्रकार के भारतीय बने रहे और वह कभी भी वैचारिक एकपन्थवाद का शिकार पूरी तरह नहीं हो पाई। परन्तु नेहरू जी ने जो प्रक्रिया चलाई थी, उसके कारण एक ओर कम्युनिज्म और दूसरी ओर यूरोपीय किस्म का राष्ट्रवाद, इन दो को केन्द्र बनाकर दो प्रचंड एकपन्थवादी राजनीतिक शक्तियाँ भारत में उभरी हैं।

एकपन्थवाद इस बात का आग्रह करता है कि वह न केवल शासन में अपितु धर्म, साहित्य, कलाएँ और संस्कृति के सभी क्षेत्रों में अपने ही पन्थ का प्रचार करेगा। इसके लिए वह अपनी पार्टी के नेताओं को ही विचारक और दार्शनिक की तरह प्रस्तुत करता है और मन्दिर, विद्याकेन्द्र, अध्यात्म केन्द्र, कलाकेन्द्र आदि सभी को अपने ही पन्थ के अनुशासन में लाने का प्रयास करता है। परन्तु हिन्दू समाज तो सदा से बहुपन्थवादी रहा है। नेहरूपन्थियों ने इसमें यह छल किया कि भारत के बहुपन्थवाद को वे 'हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, आपस में सब भाई-भाई' के नारे के नीचे इस तरह प्रस्तुत करते रहे, मानो हिन्दू समाज एक पन्थ है और तब, बहुपन्थवाद का अर्थ हिन्दुओं को एक पन्थ की तरह मानते हुए अन्य पन्थों को भी समान महत्त्व देना प्रचारित किया गया। परन्तु हिन्दू समाज तो स्वयं विविधपन्थी है। उसमें सदा से सैकड़ों पन्थ हैं। इसलिए यदि कोई राजनीतिक दल एक अलग पन्थ बनने का प्रयास

करेगा, तो वह उन सैकड़ों पन्थों में से ही एक और पन्थ बनकर रह जाएगा और इस प्रकार वह गहरे अर्थों में भारत में प्रजातान्त्रिक शासन करने के अयोग्य हो जाएगा।

इसे सरल भाषा में कुछ इस तरह स्पष्ट किया जा सकता है कि यदि किसी दल के लोग केवल अपने नेता को शीर्षस्थ विचारक और दार्शनिक की तरह प्रस्तुत करेंगे तो यह भारतीय धर्माचार्यों की विशाल और विराट परम्परा का अनजाने ही अनादर हो जाएगा। जबकि ये धर्माचार्य किसी भी भारतीय राजनेता से बहुत अधिक बुद्धिमान और विद्वान दोनों हैं। उनको अपने अधीन लाने की किसी पार्टी की कोशिश विफल ही रहने वाली है।

इसी प्रकार यदि कोई राजनीतिक दल भारत के मन्दिरों और धर्म-केन्द्रों को अपने अंकुश में लाने का प्रयास करता है और इसके लिए प्रशासनिक अधिकारियों को मन्दिरों का नियन्त्रक बनाता है तो स्पष्ट रूप से यह महापाप है और भारत की जनता ऐसा करने वाले दलों को पापी ही मानती है और मानेगी। एकपन्थवादी दलों में यह सामान्य रुझान होता है कि वे मन्दिरों तथा धर्म-केन्द्रों को अपने अंकुश में रखें। बातें तो भ्रष्टाचार पर नियन्त्रण की होती हैं, परन्तु वस्तुतः आध्यात्मिक दृष्टि से यह सबसे बड़ा भ्रष्ट आचरण है कि किसी धर्म-परम्परा में विशेष दक्षता जिन व्यक्तियों को प्राप्त नहीं है, वे उस धर्म-परम्परा के किसी केन्द्र को संचालित करने का प्रयास करें या उस पर नियन्त्रण रखने की कोशिश करें।

इसी प्रकार अपने नेता की किसी मान्यता के आधार पर एक नई संस्कृति रचने का प्रयास भी भारतीय दृष्टि से सब प्रकार से राष्ट्र-विरोधी होगा और यह नेहरू जी द्वारा 1947 ईस्वी के बाद से इसी दिशा में किए गए कामों की तरह ही निन्दनीय होगा। वस्तुतः राजनीतिक दलों के नेता भारत के एक नया अभिजन वर्ग हैं, जो अपने चरित्र और संरचना में वर्णसंकर हैं। क्योंकि भारत में एक भी ऐसा बड़ा नेता 1947 ईस्वी के बाद से आज तक नहीं हुआ है, जो वेदों का शीर्ष विद्वान हो, उपनिषदों और पुराणों का गम्भीर अध्येता हो और भारतीय ज्ञान-परम्परा तथा शास्त्र-परम्परा में निष्णात हो। ऐसी स्थिति में उसके द्वारा प्रस्तुत किए गए विचार वस्तुतः भारतीय संस्कारों और यूरोप की कुछ द्वितीय श्रेणी की पुस्तकों के अधकचरे सम्मिश्रण की दयनीय प्रस्तुति मात्र होते हैं, जिन्हें संगठन बल से अत्यधिक प्रशंसा और प्रचार के द्वारा गौरव प्रदान किया जाता है। परन्तु तत्त्वतः वे काफी कमजोर विचार होते हैं। न तो वे विश्व की कसौटी पर कहीं ठहर पाते और न ही भारतीय शास्त्रों की कसौटी पर। इस प्रकार एक द्वितीय श्रेणी के अथवा वर्णसंकर प्रकार के अभिजनों को सम्पूर्ण समाज पर आरोपित करने का प्रयास भारतीय मनीषा और परम्परा के नितान्त विपरीत है और भारत के अपने शास्त्रीय अभिजन तथा उनके प्रति श्रद्धावान समाज उन्हें कभी भी इस रूप में स्वीकार नहीं करेगा। वे अच्छे शासक बनें और समाज की शुभ प्रवृत्तियों का संयोजन करें, इसमें ही उन्हें प्रशंसा प्राप्त होगी। कुछ अन्य करने पर वे प्रशंसा के पात्र नहीं बन पाएँगे।

चीनी सिल्क रोड नहीं, भारतीय उत्तरापथ साम्राज्यवादी ओबोर बनाम सहकारवादी ओसोर

रवि शंकर*

जैसे-जैसे विश्व में यूरो-अमेरिकी ताकतों का वर्चस्व घटता जा रहा है, विश्व आर्थिक और राजनीतिक पटल पर अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिए भारत और चीन में प्रतिस्पर्धा बढ़ती जा रही है। चीन तो इस स्पर्धा में भारत के स्वाधीन होने के साथ ही जुटा हुआ है, परन्तु दुर्भाग्यवश भारत की सरकारें अभी तक इस ओर या तो आँखें मूँदी प्रतीत होती हैं या फिर उनमें एक सही समझ और रणनीति का अभाव स्पष्ट दिखता है। उदाहरण के लिए, मध्य एशिया को लेकर अभी तक भारत सरकार की नीति और समझ दोनों ही स्पष्ट नहीं रही है, जबकि चीन ने ओबोर यानी कि वन बेल्ट वन रोड की बात कहकर रणनीतिक बढ़त ले ली है। परन्तु यदि भारत इस पर सही रणनीति अपनाएँ तो उसका यह दाँव उलटा पड़ सकता है। चीन जिस वन रोड यानी कि सिल्क रोड की बात कह रहा है, वही उसकी रणनीति का सबसे कमजोर हिस्सा है।

सबसे पहली बात यह समझने की है कि सिल्क रोड नामक कोई रोड है ही नहीं। यह कोई एक सड़क नहीं थी, यह एक मार्ग था। इसमें कई सारी सड़कें थीं। यह कोई एक सड़क पर लगने वाला एक बाजार नहीं था या फिर किसी एक बाजार से होकर गुजरने वाली एक सड़क नहीं थी। यह एक पूरा इलाका था, जिसमें छोटे-छोटे ढेर सारे बाजार थे और ढेर सारी सड़कें थीं। यह मार्ग चीन और रोम के बीच के व्यापार का मार्ग भर नहीं था, जैसा कि आज इसे दिखाने का प्रयास किया जा रहा है। इसके विपरीत यह मार्ग विश्व के एक बड़े इलाके को आपस में जोड़ता था, जिसमें चीन और रोम के अलावा भारत और कई देश आते थे। इसका कोई प्रारम्भ बिन्दु नहीं था, जैसा कि आज चीन को इसका प्रारम्भ बिन्दु माना जाता है। इसका कोई अन्तिम स्थल भी नहीं था, जैसा कि आज रोम को इसका अन्तिम स्थल बता दिया जाता है।

* लेखक भारतीय धरोहर के कार्यकारी सम्पादक हैं। साथ ही सभ्यता अध्ययन केन्द्र नई दिल्ली में शोध निदेशक हैं।

इस कथित सिल्क रूट की एक और विशेषता थी और यह विशेषता थी, उसका एक खास संस्कृति का अनुगामी होना। यह संस्कृति थी भारत की। वास्तव में यह पूरा इलाका भारतीय संस्कृति के आदर्शों को मानने वाला था।

इसलिए ओबोर यानी कि वन बेल्ट, वन रोड का चीनी नारा और मंच दोनों ही झूठे और आधारहीन हैं। इसका सही नारा होना चाहिए ओसोर यानी कि वन कल्चर, वन रिलिजन का। यह नारा भारत को देना चाहिए। ओबोर का चीनी नारा स्वभावतः साम्राज्यवादी, शोषणकारी तथा पूँजीवादी प्रतीत होता है, जबकि ओसोर का भारतीय नारा मानवीय, शान्तिकारक और सद्भाव तथा संवाद पैदा करने वाला होगा। इस बात को समझना हो तो हमें सिल्क रोड की वास्तविकता, इतिहास और भूगोल को समझना होगा। जिसे हम सिल्क रोड आज कह रहे हैं, उस पूरे इलाके की संस्कृति, राजनीति और भौगोलिक स्थिति पर ध्यान देना होगा। इस पूरे इलाके में भारत और चीन के ऐतिहासिक प्रभावों का अध्ययन करना होगा। तभी हम समझ पाएँगे कि ओबोर का नारा साम्राज्यवादी है, ओसोर का नारा मानवतावादी।

सिल्क रोड या उत्तरापथ

सिल्क रोड यह नामकरण अभी हाल में उन्नीसवीं शताब्दी में वर्ष 1877 में एक जर्मन भूगोलवेत्ता फर्डिनेंड वॉन रिक्थोफेन ने किया। उसके बाद सिल्क रोड शब्द प्रयोग करने वाला दूसरा व्यक्ति भी एक जर्मन भूगोलवेत्ता था। ऑगस्ट हरमन नामक इस भूगोलवेत्ता ने वर्ष 1915 में एक लेख लिखा, जिसका शीर्षक था—द सिल्क रोड्स फ्रॉम चाइना टू द रोमन एम्पायर। जेम्स ए मिलवार्ड अपनी पुस्तक ‘द सिल्क रोड, ए वेरी शॉर्ट इंट्रोडक्शन’ में लिखते हैं, “इसने एक और भ्रामक समझ को बढ़ावा दिया, जो कि आज भी इसके साथ जुड़ी हुई है। इसके अनुसार इस मार्ग का महत्त्व केवल चीन और भूमध्यसागरीय घाटी यानी कि पूरब और पश्चिम को जोड़ने में है। परन्तु मार्ग के केवल दो छोरों पर ध्यान देने से कई बिन्दु गायब हो जाते हैं। सबसे पहले तो इस यूरोशियन अंतरदेशीय व्यापार में सिल्क यानी कि रेशम का इतना अधिक महत्त्व नहीं रहा है। वास्तव में इस मार्ग पर अनेक सामानों, जिसमें पालतू घोड़ों, सूती वस्त्र, कागज और बारूद महत्त्वपूर्ण हैं, और विचारों का आदान-प्रदान होता रहा है, जिनका कि रेशम से कहीं अधिक व्यापक प्रभाव पड़ा।” मिलवार्ड आगे बताते हैं कि हमें यह नहीं समझना चाहिए सिल्क रोड में केवल पूरब-पश्चिम का व्यापार शामिल था, जो कि इस महाद्वीप के मध्य के मैदानी इलाकों में फैला था। ऐसा करके हम उन क्षेत्रों की उपेक्षा कर देंगे, जिनमें प्रमुखतः उत्तरी भारत और आज का पाकिस्तान आते हैं और जो न केवल इस व्यापार का मुख्य केन्द्र थे, बल्कि जिसका सूती वस्त्रों तथा बौद्ध विचारों के रूप में सामानों तथा विचारों के यूरोशियन आदान-प्रदान में महत्त्वपूर्ण योगदान था।

प्रश्न उठता है कि क्या इससे पहले इस मार्ग का अस्तित्व नहीं था या फिर इस मार्ग का कोई नाम नहीं था? यदि हम अस्तित्व की बात करें तो इस मार्ग का अस्तित्व तो था। आखिर तभी तो रिक्थोफेन को इसका नामकरण करने की सूझी। तो क्या इस मार्ग का कोई नाम नहीं था। यूरोपियों की बात करें तो सम्भव है कि उन्हें इसका नाम न पता हो, परन्तु भारत की अगर हम बात करें तो भारत में इसका नाम था। यह नाम था उत्तरापथ। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि भारत इस मार्ग का सबसे बड़ा और सबसे महत्वपूर्ण खिलाड़ी रहा है। चीन का तो इस पूरे व्यापार में बहुत ही छोटा-सा हिस्सा हुआ करता था। मुख्य व्यापार भारत का था और सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इस इलाके में मुख्य राजनीतिक संरक्षण भी वर्षों तक भारत का ही रहा है। फिर रिक्थोफेन ने इसका नया नामकरण करने की आवश्यकता क्यों महसूस की होगी, वह भी ऐसा नाम जिससे इस मार्ग में चीन की प्रमुखता दिखने लगे। इसका एक कारण जो समझ में आता है कि विश्व सत्ता से च्युत होने से आशंकित यूरोप को चीन की बजाय भारत से अधिक खतरा प्रतीत होता है और इसलिए वे चीन को उभारने और भारत को दबाने या फिर उसकी उपेक्षा करने के प्रयास कर रहे थे। यह नामकरण भी उसी यूरोपीय रणनीति का एक हिस्सा था।

सिल्क रूट या रोड या फिर हिन्दी में कहें तो रेशम मार्ग का नाम सुनने से लगता है कि इस मार्ग से प्रमुख व्यापार रेशम का होता रहा होगा। यह सही बात है कि रेशम का प्रारम्भिक तथा प्रमुख उत्पादक चीन रहा है। भारत में भी रेशम चीन से ही आया है। चीन का वातावरण रेशम के उत्पादन के लिए सर्वाधिक अनुकूल है भी। आचार्य चाणक्य ने भी अपने ग्रन्थ अर्थशास्त्र में चीन से रेशम का व्यापार करने की बात लिखी है। परन्तु इस मार्ग पर होने वाले व्यापार में रेशम का हिस्सा कितना रहा होगा? इसका अनुमान हम इस बात से लगा सकते हैं कि रेशम का तत्कालीन और आज के जन-जीवन में भी कितनी भूमिका है। रेशम आज भी एक विलासिता की वस्तु ही है। सामान्यतः अमीर लोगों के प्रयोग का वस्त्र। साधारण और गरीब लोग रेशम को निहार तो सकते हैं, परन्तु पहन नहीं सकते। प्राचीन काल में तो रेशम भारत के अलावा यूरोप सहित अन्य सभी इलाकों के लिए अत्यन्त ही महंगा वस्त्र था। मिस्र और रोम के छोटे-से इलाके को अगर हम छोड़ दें तो मध्य एशिया, यूरोप और अफ्रीका के लोगों की हालत इतनी खराब थी कि उन्हें तो सूती वस्त्र भी प्राप्त नहीं थे। ऐसे में हम सोचें कि मात्रा और गुणवत्ता के हिसाब से रेशम व्यापार की सबसे प्रमुख वस्तु रही होगी तो हम मूर्ख ही कहे जाएँगे। इसलिए यह देखना आवश्यक है कि इस मार्ग से और किन-किन वस्तुओं का व्यापार होता था।

इस मार्ग से होने वाले व्यापार की प्रमुख वस्तुएँ थीं, सभी प्रकार के वस्त्र, जिसमें सूती वस्त्र बड़ी मात्रा में थे, मसाले, नील, शक्कर, चावल और घोड़े-गाय जैसे पशु आदि। यदि हम अलबिरूनी से लेकर प्लीनी द जूनियर तथा सीनियर तक के

प्राचीन वर्णनों को पढ़ें, तो हमें ज्ञात होगा कि मिस्र और रोम के लिए भारत के सूती वस्त्र तथा मसाले ही बड़े आकर्षण का विषय थे। इन दोनों ही वस्तुओं की केवल मिस्र और रोम ही नहीं, बल्कि पूरी दुनिया में बहुत माँग थी। प्लीनी से लेकर बर्नियर तक लिखते हैं कि भारतीय मसालों के कारण पूरी दुनिया का सोना और चाँदी भारत में आकर एकत्र हो जा रहे हैं। बर्नियर तो लिखता है कि भारत के पास व्यापार करने के लिए मसाले और वस्त्र हैं, परन्तु ऐसा कुछ नहीं है जो वह बाहर वालों से ले। भारत के बाहर ऐसा कुछ होता ही नहीं है, जिसका भारत में अभाव हो। ऐसे में भारत से व्यापार करने के लिए सोना और चाँदी ही एकमात्र विकल्प बचता है। हम इसे व्यावहारिक रूप में भी देख सकते हैं। भारत को सोने की चिड़िया कहा जाता रहा है, परन्तु भारत में सोने का उत्पादन अधिक नहीं होता। फिर यह सोना आता कहाँ से था? यह सोना भारत में व्यापार के द्वारा दुनिया-भर से आता था। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि सभी यूरोपीय वर्णन दुनिया के धन के भारत में केन्द्रित होने का वर्णन करते हैं, एक भी चीन में धन पहुँचने का वर्णन नहीं कर रहा है। इसके दो ही निहितार्थ हो सकते हैं। पहला यह कि विश्व व्यापार में चीन की वास्तव में कोई बड़ी भूमिका नहीं रही है। और दूसरा यह कि चीन को विश्व विशेषकर यूरोप उस समय भारत के भाग के रूप में ही देखता रहा हो। दोनों ही स्थितियों में भारत की स्थिति ही अधिक मजबूत कही जाएगी।

भारतीय व्यापारियों का एकाधिकार

एक बात यह भी कही जा सकती है कि भारत इस व्यापार में सामानों की आपूर्ति भले ही करता रहा हो, परन्तु व्यापार पर तो चीन और अन्य देशों का ही कब्जा रहा होगा। परन्तु यह बात भी सच नहीं है। अत्यन्त प्रारम्भिक काल से ही इस पूरे इलाके में भारतीय व्यापारियों के लम्बे काफिलों का एकाधिकार रहा है। व्यापार के मामले में भारतीयों का न तो पहले कोई सानी रहा है और न ही आज है। उन्नीसवीं शताब्दी तक विश्व व्यापार में भारतीय व्यापारी प्रमुख भूमिका में रहे हैं। स्कॉट सी. लेवी की पुस्तक 'कारवाँ: हिन्दू मर्चेंट्स ऑन द सिल्क रोड', की भूमिका में गुरुचरण दास लिखते हैं, "हिन्दू व्यापारी मध्य एशियायी अर्थव्यवस्था के केन्द्र बिन्दु थे। वे रोपाई के मौसम में रोपाई के लिए किसानों को ऋण दिया करते थे, कटाई के मौसम में उनकी फसल खरीदा करते थे और उनके परिवहन की भी व्यवस्था करते थे। स्थानीय शासक उनकी इन सेवाओं का काफी सम्मान करते थे, जिनके कारण उनकी अर्थव्यवस्था सुदृढ़ रहती थी और करों का संग्रह बढ़ता था। इसके बदले में शासक भारतीय व्यापारियों को अपने शिविरनुमा काफिले में शान्ति और सम्मान से रहने की सुविधा देते थे, जहाँ वे होली दिवाली जैसे त्योहार मनाते थे। उनके साथ ब्राह्मण भी होते थे जो सारे कर्मकांड करवाते थे। इनकी केवल मृतकों का अन्तिम संस्कार करने की परम्परा से स्थानीय कठमुल्ले मुसलमानों को समस्या

थी। इसलिए बुखारा के अमीर ने श्मशान के पास सेना की एक टुकड़ी तैनात कर रखी थी, ताकि कोई उन्हें परेशान न कर पाए।”

इसके आगे गुरुचरण दास लिखते हैं, “बुखारा के उजबेक खानों ने अपने प्रशासन में एक पद ही बना दिया था यसावुल ई हिंदुआन-हिन्दुओं का रक्षक। जिसका काम था हिन्दू व्यापारियों के कल्याण की चिन्ता करना और बहुसंख्यक असहिष्णु मुसलमान समुदाय को दिए गए कर्ज की वसूली में उनकी सहायता करना। फारसी सफाविद साम्राज्य (1501-1722) ने भी समान रूप से हिन्दू व्यापारियों और उनके काफिले की रक्षा की और मुस्लिम लोगों के बीच रहते हुए उन्हें अपने रीति-रिवाजों का पालन करने की छूट दी।” समझने की बात यह है कि ऐसा केवल व्यापार के कारण नहीं होता था। मुस्लिम शासक केवल धन के लिए हिन्दुओं को अपनी परम्पराओं के पालन की छूट नहीं देते थे। उन पर अभी तक इस्लाम के कट्टरवादिता का प्रभाव अधिक नहीं हो पाया था और वे भारतीय उदात्त परम्परा के अनुसार ही व्यवहार कर रहे थे। जब शासकों पर भी इस्लामी कट्टरता का प्रभाव बढ़ा तो केवल ईरान के इस्फाहान में 25 हजार हिन्दू व्यापारी मारे गए।

इस पूरे विवरण से कई बातें साफ हो जाती हैं। पहली बात तो यह कि भारतीयों का इस व्यापार-क्षेत्र पर लम्बे समय तक कब्जा रहा है और वे भारतीय अधिकांशतः हिन्दू ही थे। दूसरी बात यह कि वे अपने काफिले के साथ ब्राह्मणों को भी लेकर चलते थे और अपने त्योहार आदि भी मनाते थे। इसका तात्पर्य हुआ कि वे केवल घुमन्तू लोग नहीं थे। व्यापार के लिए वे घूमते भी थे, परन्तु डेरा डालकर भी रहते थे। इसका एक और प्रमाण श्मशानों का होना है। श्मशान होते थे, क्योंकि लम्बे समय रहने पर लोगों की मृत्यु भी होती थी और वे भारत वापस आने की बजाय वहीं उनका अन्तिम संस्कार करते थे। श्मशानों की स्थायी व्यवस्था ही रही होगी, तभी वहाँ सेना की टुकड़ी रखी गई थी। यहाँ ध्यान देने की बात यह भी है कि बुखारा उजबेकिस्तान में आता है, जो कि कभी भी चीन का हिस्सा नहीं रहा है।

चीनी सिल्क रोड नहीं, भारतीय सांस्कृतिक क्षेत्र

वास्तव में यदि हम कथित सिल्क रोड का नक्शा देखें तो इसका अधिकांश हिस्सा चीन के बाहर ही है, चीन के अन्दर तो कठिनाई से इसका 10 प्रतिशत भाग ही होगा। चीन के लिए सिल्क रोड का सबसे नजदीकी हिस्सा है सिक्कांग। चीनी तुर्किस्तान के नाम से प्रसिद्ध सिक्कांग भी वर्ष 1945-50 के पहले कभी चीन में नहीं रहा। यदि हम विभिन्न शताब्दियों में चीन के नक्शे को देखें तो 220 ईसा पूर्व के हान राजवंश से लेकर चौदहवीं शताब्दी के युवान राजवंश तक ये सारे इलाके भारतीय प्रभाव-क्षेत्र में ही रहे हैं। युवान राजवंश वास्तव में चीनी राजवंश नहीं है, वह मंगोल राजवंश है और उस काल में चीन मंगोलों का गुलाम था। यहाँ हमें यह भी समझना चाहिए कि चीन की यह गुलामी भारत में इस्लामी शासन से नितान्त भिन्न था। एक तो पूरे भारत में

कभी इस्लामी शासन नहीं रहा। दूसरे, भारत में इस्लामी शासन के दौरान भी भारत का जनमानस कभी गुलाम नहीं हुआ और यहाँ के राजवंश भी हमेशा उनसे अपनी स्वाधीनता हेतु लड़ते रहे। और तीसरे, शासन के अलावा व्यापार, उत्पादन, खेती, साहित्य, धर्म तथा दर्शन सभी कार्य स्वतन्त्र रीति से चलते रहे। चीन की हालत ऐसी नहीं थी। उसके सम्पूर्ण जीवन पर मंगोलों का गम्भीर प्रभाव रहा। खेती-व्यापार से लेकर धर्म-दर्शन तक पूरे मंगोलों की सत्ता ने गहरा प्रभाव डाला।

इसलिए चीन जिस इतिहास के बल पर कथित सिल्क रोड पर अपने प्रभाव-क्षेत्र की बात कर रहा है, वह वास्तव में गुलाम चीन के मंगोल राजवंश का प्रभाव रहा है। यह भी हमें जानना चाहिए कि मंगोल दिखने में भले ही चीनी जैसे हों, उनकी संस्कृति पर चीनियों की बजाय भारतीय प्रभाव काफी गहरा और दर्शनीय है। मंगोल सम्राट चंगेज खाँ से लेकर कुबलाई खाँ तक सभी भारतीय उदात्त जीवन-मूल्यों को ही प्रश्रय देते आए थे। इसलिए मध्य एशिया के इस व्यापारिक पथ, उत्तरापथ, पर कभी भी भारतीयों और हिन्दुओं को किसी समस्या का सामना नहीं करना पड़ा और वे चीन से लेकर पश्चिमोत्तर में रूस, मध्य में ईरान, अरब और दक्षिण-पश्चिम में भूमध्यसागरीय यूरोपीय देशों और अफ्रीका तक निर्बाध व्यापार करते रहे। इस पूरे इलाके में भारतीय हिन्दू प्रभाव के अनेक सूत्र पुरातात्विक खुदाई में भी प्राप्त होते रहे हैं। तिब्बत, मंगोलिया और सिक्कांग के इलाके की चर्चा ‘भारतीय धरोहर’ के नवम्बर-दिसम्बर, 2016 के अंक में विस्तार से की जा चुकी है। यूरेशिया के क्षेत्र में भारत के सांस्कृतिक प्रभाव को भी आसानी से देखा जा सकता है। सातवीं-आठवीं शताब्दी में इस्लाम के प्रादुर्भाव और विस्तार से पहले तक इस पूरे इलाके में भारतीय राजाओं का ही प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभाव रहा है। इस्लाम के विस्तार के बाद जब यहाँ की जनता और शासकों का मतान्तरण हो गया, तब भी इस पूरे इलाके में लम्बे समय तक एक प्रकार का साम्प्रदायिक सद्भाव बना रहा है। इसका एक बड़ा कारण रहा है भारतीय उदात्त जीवन-मूल्यों का इस पूरे इलाके में प्रभाव। पहले सनातन भारतीय परम्परा और फिर उसी परम्परा को आगे बढ़ाती बौद्ध परम्परा के प्रभाव में मध्य एशिया और यूरेशिया के पूरे इलाके में शान्ति और सद्भाव का वह वातावरण बना रहा, जिसमें व्यापार खूब फला-फूला।

वास्तव में सिल्क रोड को एक रोड के रूप में देखने से यही समस्या आती है। इसे हमें एक क्षेत्र के रूप में ही देखना होगा। जब हम इसे एक क्षेत्र के रूप में देखेंगे तो केवल व्यापार महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाएगा, बल्कि विचारों और संस्कृतियों का परस्पर जुड़ाव तथा विनिमय अधिक महत्त्व की वस्तु होंगे और इसमें चीन का योगदान शून्य ही है। जो भी योगदान है, वह भारत का है। इसी बात को वेलैरी हानसेन अपनी पुस्तक ‘द सिल्क रोड: ए न्यू हिस्ट्री’ में लिखती हैं, “इन कागजातों से इस इलाके की प्रमुख ताकतों, व्यापार की सामग्रियों, काफिलों के आकार और इस व्यापार के मार्ग में पड़ने वाले स्थानीय लोगों पर होने वाले प्रभाव को समझना सम्भव हो पाता है। ये सिल्क रोड के वृहत्तर प्रभावों को भी स्पष्ट करती हैं, विशेषकर आस्था सम्बन्धी

विश्वासों और तकनीकों जिन्हें अपने युद्ध-जर्जर इलाकों से भागकर आए हुए विस्थापित लोग अपने साथ लेकर आए। ...भारत में जन्मे बौद्ध मत जो चीन में काफी लोकप्रिय हो चुका था, का निश्चित ही सबसे अधिक प्रभाव था, परन्तु बेबीलोन के मैनिकेइज्म, जरथ्रुस्टवादियों तथा सीरिया के पूर्वी ईसाई चर्च का भी थोड़ा-बहुत प्रभाव था।” हानसेन लिखती हैं कि इस्लाम के उदय के पहले तक इस पूरे इलाके के विभिन्न समुदायों के लोग एक-दूसरे के आस्थाओं के प्रति आश्चर्यजनक रूप से सहिष्णु थे। शासक व्यक्तिगत रूप से किसी मत को छोड़कर कोई दूसरा मत स्वीकार करते थे और वे अपनी प्रजा को उनका अनुसरण करने के लिए प्रोत्साहित भी करते थे, परन्तु वे अन्य मतावलम्बियों को भी उनकी रिवाजों का पालन करने की पूरी छूट देते थे। यह सहिष्णु परम्परा भारत की है और वह यहाँ से ही पूरे यूरोशिया में फैली थी।

यूरोशिया के इस इलाके में भारत के बाद दूसरा प्रमुख सांस्कृतिक प्रभाव सोगदियानों का रहा है। सोगदियान वास्तव में वर्तमान उजबेकिस्तान के प्रसिद्ध शहर समरकन्द के थे। उनका मूल और आगे ढूँढ़ने पर ईरान तक पहुँचता है। ईरान मूलतः भारतीय संस्कृति का ही एक भाग रहा है। अधिकांशतः सोगदियान लोग जरथ्रुस्ट के मतानुयायी रहे हैं। जरथ्रुस्ट प्रकारान्तर से वैदिक मत ही है। जेंदावेस्ता का मूल ऋग्वेद है, यह आज किसी से भी छिपा नहीं है। उनके बारे में वर्णन करते हुए हानसेन लिखती हैं, “वे एक ईरानी भाषा सोगदियान बोलते थे, और अधिकांश लोग प्राचीन ईरानी गुरु जरथ्रुस्ट की शिक्षाओं का पालन करते रहे हैं जिसका कहना था कि सत्य सबसे महान गुण है। सिक्कांग में संरक्षण की अस्वाभाविक परिस्थितियों के कारण सोगदियानों और उनके मत के बारे में जानकारी उनके मूल-स्थान की बजाय चीन में सुरक्षित रही।”

ओसोर बने भारत की रणनीति

इस प्रकार हम पाते हैं कि यूरोशिया के पूरे इलाके में भारतीय संस्कृति ही अपने विभिन्न रूपों में छाई हुई थी। यह संस्कृति परस्पर सहकार की संस्कृति थी और इस सहकार के कारण इस पूरे इलाके में व्यापार फल-फूल सका था। यह स्थिति लगभग अठारहवीं शताब्दी तक कायम रही है। अठारहवीं शताब्दी तक पूरे यूरोशिया में हिन्दू व्यापारियों के टोले बसे हुए थे। वर्तमान के अफगानिस्तान से लेकर ईरान और रूस तक उन्हें शासकीय संरक्षण मिलता था। इस परस्पर सहकारवादी संस्कृति का लोप होते ही यूरोशिया के इलाके में अशान्ति छा गई और उसके कारण व्यापार नष्ट हो गया। प्रारम्भ में इस्लामी कट्टरपन्थियों और कालान्तर में कम्युनिस्टों के उभार ने इन इलाकों के शानदार व्यापारिक इतिहास को समाप्त कर दिया।

वर्ष 1917 की रूसी क्रान्ति के बाद उजबेकिस्तान, कजाकिस्तान, तजाकिस्तान, किर्गीस्तान, बेलारूस, उक्रेन आदि देश सोवियत संघ में शामिल कर लिये गए थे। परन्तु इससे इन देशों की स्थिति सुधरी नहीं, उलटे उनकी स्थिति और खराब हुई। वर्ष

1991 में रूस के सोवियत संघ का विघटन हुआ और कुल 15 देश अलग-अलग हो गए। देश तो अलग-अलग हो गए, परन्तु वे अपनी उस साझी विरासत से अभी तक नहीं जुड़ पाए हैं, जिसके वे उत्तराधिकारी हैं। यह वही साझी विरासत है, जो आज से केवल तीन सौ वर्ष पहले उनकी पहचान हुआ करती थी। उसी पहचान को पाने की छटपटाहट में वे अलग देश तो बन गए हैं, अब आवश्यकता है कि वे अपनी उस पहचान को भी जीवित करें। इस काम में उनकी सहायता भारत कर सकता है। उसने पहले भी यह काम किया है। यह काम चीन नहीं कर सकता। वह वन बेल्ट वन रोड के नाम पर केवल शोषण कर सकता है। तिब्बत और सिक्कांग की हालत हम देख सकते हैं। दोनों ही इलाकों की उनकी अपनी पहचान को समाप्त करने का एक षड्यन्त्र चल रहा है। चीन उनकी अपनी पहचान को मजबूत नहीं कर रहा, वह उसे नष्ट करने का प्रयास कर रहा है।

इसलिए आज की आवश्यकता है कि ओबोर का भारत विरोध करे, परन्तु इसका उद्देश्य केवल अपनी सामरिक रक्षा न हो। इसे पूरे इलाके को उसकी साझी पहचान जोकि सभी के हित में थी, को पुनर्जीवित करना होगा। इसके लिए वन कल्चर वन रिलिजन का, ओसोर का नारा देने की आवश्यकता है। कैस्पियन सागर के तटों से लेकर मंगोलिया तक के यूरोशिया के इलाके में एक बार फिर से उसी सहकारवादी, मानवतावादी और पन्थनिरपेक्ष वातावरण बनाने के लिए प्रयास किया जाना चाहिए। इस मंच से दुनिया में फैल रहे आतंकवाद को भी समाप्त किया जा सकता है। आईएसआईएसएल ने जो खुरासान माड्यूल प्रस्तुत किया है, वह इस इलाके की रणनीतिक महत्ता को रेखांकित करता है। ओसोर का मंच आईएसआईएसएल के खुरासान माड्यूल को असफल कर सकता है। भारत, पाकिस्तान, अफगानिस्तान, ईरान, उजबेकिस्तान, कजाकिस्तान, तजाकिस्तान, किर्गीस्तान, बेलारूस, उक्रेन, रूस, मंगोलिया आदि सभी देश यदि इस एक मंच पर आ सकें, तो इससे इस पूरे क्षेत्र में आतंकवाद को समाप्त करने की सबसे गम्भीर पहल की जा सकेगी। इस प्रकार यह मंच न केवल भारत और यूरोशिया, बल्कि सम्पूर्ण मानवता के हित में होगा।

सन्दर्भ सूची

1. द सिल्क रोड : ए वेरी शार्ट इंट्रोडक्शन, जेम्स ए. मिलवार्ड
2. कारवाँ : हिन्दू मर्वेट्स ऑन द सिल्क रोड, स्कॉट सी. लेवी
3. द सिल्क रोड : ए न्यू हिस्ट्री, वेलेरी हानसेन
4. द सिल्क रोड : ए न्यू हिस्ट्री ऑफ द वर्ल्ड, पीटर फ्रैंकोपैन
5. इंडिया एंड सेंट्रल एशिया, वी.बी. कुमार एंड जे., एन. रॉय
6. बृहत्तर भारत, चन्द्रगुप्त वेदालंकार
7. www.wikipedia.com
8. www.ancient.au

विज्ञान, अध्यात्म और साहित्य

डॉ. श्रीराम परिहार* (डी.लिट्.)

ब्रह्मांड के केन्द्र में ब्रह्म है। सृष्टि में सर्वोपरि रचना मनुष्य है। मनुष्य की श्रेष्ठता उसके मानुषभाव में है। मानुषभाव का विस्तार आत्म-विस्तार का ही प्रतिफलन है। मनुष्य सृष्टि की सुन्दरतम इकाई होते हुए भी वह पूर्णता की प्राप्ति आन्तरिक यात्रा की उच्चता और सृष्टि के रहस्यों के उद्घाटन में ही करता है। मनुष्य विवेकवान है। वह प्रकृति या ब्रह्म के द्वारा अनन्त ऊर्जा या सम्भावनाओं से विभूषित कर पृथ्वी पर भेजा गया है। वह जिज्ञासु है। वह नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का वरण और धारण कर अपने अन्तर-बाहर को जानने, समझने और पहचानने के लिए उत्सुकता और प्रतिज्ञा के साथ निरन्तर-निरन्तर कर्मरत रहता है। यह कर्म गम्भीर एकाग्रता की स्थिति में साधना बन जाता है। साधना की चरमावस्था की राह सिद्धि के द्वार तक ले जाती है। मनुष्य अपनी प्रज्ञा से, मेधा से, ऋतम्भरा से अपने बाहरी परिवेश के या भौतिक जगत के रहस्यों को जानना-परखना आरम्भ करता है। उसी तरह वह अपने भीतरी स्वरूप को भी ठीक-ठीक देखने और साक्षात् करने तथा उससे भी आगे अनुभव करने के संकल्प के साथ आत्मस्थ होता है।

मनुष्य की उज्ज्वला शक्ति को बढ़ाने और दिव्य बनाने में दो तत्त्व प्रमुख हैं। ज्ञान और प्रतिभा का ही सारा प्रतिभावन है। ज्ञान मूल है। प्रतिभा ज्ञान को उद्भावित और प्रकाशित करने वाली नैसर्गिक शक्ति है। ज्ञान स्वयम्भू है। वह उद्भावित और उद्घाटित होता है। यह क्रिया ज्ञान-इच्छा-क्रिया के त्रिकोण द्वारा सम्पन्न होती है। ज्ञान शुद्ध है। पवित्र है। उसके समान भौतिक और आत्मिक जगत में कोई अन्य पवित्र नहीं है। कोई समतुल्य नहीं है। ज्ञान अर्जित नहीं किया जाता है। वह अनुभव किया जाता है। उसे बोधगम्य बनाया जाता है। ज्ञान के प्रकाश में प्राप्त अनुभव को प्रतिभा प्रतिभाषित करती है। उसे दीप्त करती है। उसे चमक देती है। उसे दर्शन और

दृष्टि प्रदान करती है। उसे प्रभामय करती है। आचार्यों ने कहा भी है—‘प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।’ ज्ञान और प्रतिभा मनुष्य को नव-नव बोध और नव-नव अनुभव और नव-नव सर्जन में प्रवृत्त करते हैं। अखिल सृष्टि में मनुष्य के पास भौतिक जगत भी है और आन्तरिक जगत भी है। ज्ञान की बहिर्मुखी गति उसे पदार्थ जगत् और सौर मंडल के रहस्यों को जानने हेतु आकुल-आतुर करती है। ज्ञान की अन्तर्मुखी दृष्टि उसे आत्मज्ञान, आत्मस्वरूप और आत्मबोध की ओर अविकल बेचैन करती है। आत्मा, ब्रह्म, अहं, तत्त्वमसि आदि-आदि अनेक गुह्य पथों पर अग्रसर करती है। एक के माध्यम से मनुष्य विज्ञान के बीहड़ में चला जाता है। चलता ही जाता है। दूसरे का साथ उसे अध्यात्म के उपवन में पहुँचा देता है। जहाँ बिन बादल अमृत फुहारें पड़ती हैं।

भौतिक जगत् से सम्बन्धित आविष्कारों एवं अन्वेषणों के व्यवस्थित तथ्याधारित ज्ञान को विज्ञान कह सकते हैं। इस दृष्टि से विज्ञान की परिख्यापति पृथ्वीलोक, भूगर्भलोक और अन्तरिक्षलोक तक होती है। विज्ञान का लक्ष्य भी सत्य की खोज है, लेकिन यह भू-भौतिक जगत् का सत्य है। जिसे हम पदार्थ जगत् का सत्य कह सकते हैं। विज्ञान का अर्थ “इन्द्रियगम्य विषयों के व्यवस्थापक नियमों” से है। (तत्त्व चिन्तन-यशदेव शल्य, पृ. 173) स्पष्ट है कि विज्ञान का तथ्य और सत्य इन्द्रियों (कर्मेन्द्रियों) के माध्यम से खोजा जा सकता है। जिनका सम्बन्ध रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द से है। अध्यात्म इन्द्रियगम्य विषयों से परे है। विज्ञान का साधन कर्मेन्द्रियाँ हैं। अध्यात्म का साधन ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। विज्ञान किसी भी विषय, क्षेत्र या पदार्थ से सम्बन्धित व्यवस्थित अध्ययन, निष्कर्ष और नयी संरचना की उद्भावना का क्रमिक और मौलिक आविष्कार है। इस दृष्टि से समस्त भौतिकी और मानवीक तथा गणितीय अध्ययन विज्ञान के वृत्त में आता है।

विज्ञान के सत्य या निष्कर्ष प्रयोग आधारित होते हैं। विज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण को साक्ष्य मानता है। दो वस्तुओं को मिलाने से क्या होता है? दो द्रव्यों को घोल देने से क्या होता है? दो गैसों के सम्मिश्रण से क्या होता है? घर्षण का क्या परिणाम या फल होता है? बलाघात से क्या होता है? वेग और संवेग गति में कैसे रूपान्तरित होते हैं? प्रयोगों के करने, देखने, परखने के परिणामों पर विज्ञान का सत्य आधारित है। विज्ञान ने अपनी आलोक यात्रा में पाया कि भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में स्थूल से सूक्ष्म तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म की नाभि में अणु, परमाणु, इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन, न्यूट्रॉन, क्वार्क और गॉड पार्टिकल स्थित हैं। इसके आगे अभी विज्ञान की गति नहीं है। विज्ञान यहाँ आ कर रुक जाता है। सम्भवतः यहीं से, इसके आगे अध्यात्म का कार्य और वास्तविक सत्य की साधना प्रारम्भ होती है।

आत्मा और ब्रह्म के रूप, स्वरूप तथा सम्बन्धों को अनुभवगम्य करने हेतु की जाने वाली एकान्तिक साधना अध्यात्म है। अध्यात्म की यात्रा साधना मार्ग की है।

* संपर्क : आजाद नगर, खंडवा-450001

मनुष्य की चेतना स्वयं से प्रश्न करती है कि वह कौन है? वह क्या है? वह कैसी है? वह कहाँ से आई है? वह कहाँ जाएगी? हमारे ऋषियों, मुनियों, तपस्वियों, साधकों, सिद्धों, मनीषियों, पूर्वजों ने इनके उत्तर खोजे हैं। इनके उत्तर बाहर नहीं भीतर खोजे हैं। अध्यात्म साधना आत्म-साधना ही है—परमात्मा को जानने और पाने की। जितनी खोजें विज्ञान के द्वारा बाहरी जगत् में आज हुई हैं, उससे कई गुना कठिन और सूक्ष्म खोजें अध्यात्म के क्षेत्र में साधना के अनेक मार्गों और अनेक स्तरों पर हो चुकी हैं। जिस तरह विज्ञान खोजते-खोजते अणु-परमाणु, इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन, न्यूट्रॉन, क्वार्क और पदार्थ की सूक्ष्मतरंग इकाई गॉड पार्टिकल तक अभी तक पहुँचा है। अध्यात्म के द्वारा भारतीय मनीषा ने आत्मा, उसके ब्रह्म से सम्बन्ध, उसके स्वरूप, उसके आने का उद्देश्य और अन्त में उस अनुपम, अपूर्व, सुन्दर, अमरपुर, में चले जाने के अनुभव को ज्ञान-चक्षुओं से देखा है। ब्रह्म के स्वरूप की भी नाना प्रकार से आँखिन देखी कही है। संसार की उत्पत्ति, स्थिति और लय के कार्य-कारण को आलोकित किया है। भूलोक, अन्तरिक्ष और द्युलोक के अनेक ग्रहों, नक्षत्रों, आकाशगंगाओं की ज्ञान-यात्राएँ की हैं।

अध्यात्म और विज्ञान में बिन्दु केन्द्र में है। बिन्दु की खोज गणित का विषय है। गणित विज्ञान और अध्यात्म दोनों में सहयोगी है। अध्यात्म साधना में ऊँ को अक्षर ब्रह्म का स्थूल रूप अनुभव किया गया है। ऊँ में अ, उ, म् के अक्षर विस्तार में संसार, आत्मा और ब्रह्म सम्बन्धी व्याख्या अन्तर्निहित है। 'अ' यह स्थूल या, मायामय दृश्य संसार है। 'उ' सूक्ष्म रूप है। अतः यह आत्मा है। 'म्' चन्द्राकृति कारण रूप है और 'ऋ' (बिन्दु) ब्रह्म रूप है। बिन्दु का विस्तार ही ऊँ है। बिन्दु का विस्तार ही कारण रूप आत्मा और यह संसार है। अतः आत्मा, संसार उतना ही पुरातन और सनातन है, जितना ब्रह्म। उत्पत्ति, स्थिति और लय का बिन्दु रूप परमात्मा ही है। ऐसा अध्यात्म का अनुभव है। बिन्दु रूप ब्रह्म में सृष्टि रचने की जो इच्छा प्रकट होती है, वह ही नाद के रूप में प्रसरित और विस्तारित होती है। एक बूँद का सकल पसारा है। एक ज्योति से जग उपजा है। इसे आग और उससे प्रकट ज्योति-स्फुर्लिंगों के रूपक से या सूर्य और सूर्य-रश्मियों के आधार पर समझा जा सकता है। अग्नि से ज्योतिर्कण निकलते हैं और उसी में विलीन हो जाते हैं। सूर्य से किरणें निकलकर सान्ध्य वेला में सूर्य में समाहित हो जाती हैं। सूर्य बिन्दु है। किरणें नाद हैं। ब्रह्म बिन्दु है। सकल संसार नाद है। अध्यात्म की साधना ने इस शरीर में ही अखिल ब्रह्मांड की स्थिति को भी खोजा-पाया है। जोई-जोई पिंडे, सोई ब्रह्मडे, जो खोजे सो पावे।

ब्रह्म से सृष्टि का निर्माण कैसे हुआ? अध्यात्म और विज्ञान दोनों का प्रमाण-सत्य है कि भौतिक संसार की रचना (मनुष्य शरीर की भी) पंचतत्त्वों से हुई है। पृथ्वी, आकाश, जल, वायु और अग्नि से सब कुछ दृश्यमान जगत निर्मित है। इन पाँचों तत्त्वों का निर्माण कैसे हुआ, इस सम्बन्ध में विज्ञान अनेक जगह मौन है और अध्यात्म

स्पष्टतः मुखर है। ऋग्वेद से सम्बन्धित ऐतरेय उपनिषद् है। ऋग्वेद के ऐतरेय आरण्यक के दूसरे भाग के चौथे, पाँचवें और छठवें अध्यायों में ब्रह्म विद्या की विशद व्याख्या की गई है। इस कारण इसे उपनिषद् की कोटि में रखा जाता है। इसमें उल्लेखित तत्त्वों के अनुसार निर्गुण, निराकार, अनाम, अरूप ब्रह्म में सृष्टि-रचना का संकल्प जागता है। ब्रह्म इसके लिए चार लोकों—अम्भ, मरीचि, मर और आपः की रचना करता है। महः, जनः, तपः, सत्य और द्युलोक को 'अम्भ' कहा जाता है। सूर्य, चन्द्र, तारों, ग्रहों के नक्षत्र लोक अन्तरिक्ष में होने से 'मरीचि' कहा जाता है। पृथ्वी लोक में सब कुछ नश्वर होने के कारण 'मर' कहा जाता है। पृथ्वी के नीचे जो पाताललोक है, उसे 'आपः' (जल) की संज्ञा दी जाती है। 'अम्भ' और 'मरीचि' अन्तरिक्ष में स्थित होने के कारण दोनों को मिलाकर अन्तरिक्षलोक, 'मर' से मृत्युलोक और 'आपः' से पाताललोक नाम दिया गया है। इन तीनों लोकों का सर्जक ब्रह्म होने के कारण उसे त्रिलोकीनाथ कहा जाता है।

यह भी स्पष्ट किया गया है कि परब्रह्म ने जल में से हिरण्यमय पुरुष की रचना की। हिरण्यमय पुरुष के शरीर में से फटकर मुख बना। मुख से वाक् की उत्पत्ति हुई। वाक् से अग्नि प्रकट हुई। दोनों नासिका छिद्र प्रकट हुए, उसमें प्राणवायु उत्पन्न हुई। वायु का जन्म हुआ। दोनों आँखें प्रकट हुईं, उससे दृष्टि बनी। सूर्य देवता की उत्पत्ति हुई। कानों के प्रकटीकरण से श्रोत इन्द्रिय की उत्पत्ति हुई। इससे दिक्पालों की उत्पत्ति भी मानी जाती है। त्वचा के प्रकट होने से रोम प्रकट हुए, जिनसे वनस्पतियों और औषधियों की उत्पत्ति हुई। हृदय प्रकट हुआ। हृदय से मन और मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ। नाभि से अपान वायु और उससे मृत्यु की रचना हुई। लिंग से वीर्य और उससे जल देवता की रचना हुई। पंचमहाभूतों की रचना, पंच कर्मेन्द्रियों की रचना और रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द का आस्वादन-अनुभव की क्रमबद्ध उत्पत्ति-प्रक्रिया वेदों, उपनिषदों, पुराणों और इतर साहित्य में अनुभव-प्रमाण के साथ दर्शाई गई है। श्रीमद्भागवत पुराण के तृतीय स्कन्ध के दशम अध्याय में दस प्रकार की सृष्टियों का वर्णन है, जिनमें तीन गुणों, पंच महाभूतों, मानव, प्रकृति और पशु-पक्षियों की रचना का क्रम वर्णित है।

अध्यात्म साधना द्वारा जड़-चेतन दोनों पर गहन आत्म-चिन्तन कर मनीषियों ने सबमें एक चेतन तत्त्व की उपस्थिति अनुभव की है। विज्ञान ने उसे ऊर्जा कहा। दर्शन ने उसे ब्रह्म कहा। परम तत्त्व कहा। अध्यात्म की गहन और उच्चतम साधना ने उद्घोष किया कि यह जड़-चेतन, गुण-दोषमय संसार पाँच तत्त्वों से सर्जित है। इसमें तीन गुण सत्, रज और तम हैं; जो वस्तु, व्यक्ति या जड़ और चेतन की प्रकृति की रचना निर्धारण करते हैं। मानव शरीर भी पंच महाभूतों से बना है। इसमें ब्रह्म का अंश आत्मारूप में अवस्थित रहता है। कर्म के आधार पर शुभाशुभ फलों का भोग है। कर्म के आधार पर ही प्रारब्ध का निर्माण और भाग्य का निर्धारण होता है। जन्म, मृत्यु,

हानि, लाभ, यश, अपयश विधि के हाथ में है। अतः परब्रह्म ही श्रेष्ठ कर्ता पुरुष है। शेष सृष्टि प्रकृति है। पुरुष और प्रकृति के संयुक्त संयोग से ही अखिल सृष्टि निर्मित, परिचालित और संचालित है। ब्रह्म सर्वव्यापी है। वह सत्, चित, आनन्द अर्थात् सच्चिदानन्द है। वह सब में समाया है। सब में स्थित है। वह कण-कण निवासी और घट-घट वासी है।

विज्ञान जड़-चेतन में ऊर्जा को तो स्वीकार करता है। किन्तु आत्मा को स्वीकार नहीं करता है। आत्म-तत्त्वचिन्तन से और अनुभव स्वीकार्य से विज्ञान दूर है। अध्यात्म साधना के द्वारा ब्रह्म, जीव, जगत, माया सम्बन्धी जो अनुभव मनुष्य को या साधक को होते हैं; उससे जो दृष्टि प्राप्त होती है, वह दर्शन की श्रेणी या परिधि में आती है। दर्शन देखने की आन्तरिक और गहरी दृष्टि प्रदान करता है। विज्ञान जड़-चेतन का विभाजन मान्य करता है। दर्शन की दृष्टि में जड़ कुछ नहीं है। सब चेतन हैं। प्राप्त दृष्टि के अनुसार जो आचरण होता है। वह धर्म है। वस्तु या जीव को धारण करने की जो प्रकृति है, वह धर्म है। आग का धर्म जलाना है। पानी का धर्म शीतलता है। वायु का धर्म गति है। पुष्प का धर्म सुगन्ध है। मनुष्य का धर्म मानुषभाव का या अपना आत्म-विस्तार है। परम-धर्म सबका कल्याण है। लोकमंगल है। सृष्टि का हित है। आनन्द की प्राप्ति है। अध्यात्म अनुभव कराता है कि प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक जीव में ब्रह्म का निवास है। वह यह भी साक्षात् कराता है कि सब में आत्मा तत्त्व ही चैतन्य बनकर बैठा है। इससे वह यह अनुभव विस्तार कराता है कि ब्रह्म और आत्मा एक ही है। अद्वैत है। आत्मा ब्रह्म का ही अंश है। तत्, त्वम्, असि। तत्त्वमसि। जीव, सृष्टि और आत्मा का परम लक्ष्य आत्मिक ज्ञान की प्राप्ति कर बन्धन मुक्त होकर ब्रह्म से सायुज्य और सारूप्य हो जाना है। अध्यात्म साधना के परा और अपरा विद्या को जानना, ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग तीनों की आचरण चरितार्थता, पुरुषार्थ चतुष्टय की लक्ष्य-स्पष्टता आनुषंगिक आयाम हैं।

मानव सभ्यता के विकास के आरम्भिक काल से ही अध्यात्म और विज्ञान मनुष्य की लक्ष्ययात्रा में न्यूनाधिक रूप से साथ रहे हैं। आग का आविष्कार सबसे पहली महत्वपूर्ण उपलब्धि है। चक्र की संकल्पना और उसका निर्माण भी उतना ही महत्वपूर्ण है। ऊर्जा और गति ने मानव की लक्ष्ययात्रा को द्रुतगामी और विश्वास भरी बनाया। मनुष्य पृथ्वी का चेतनामय सदस्य है। लेकिन उसकी गति जल, थल, नभ, खगोल, भूगोल, नक्षत्रलोक तक विस्तार पाती है। मनुष्य के जीवन की अकुंठ चेतना ने माटीकणों, जलकणों, ज्योतिर्कणों, वायुझोंकों और नभ के नीलांचल के मौन में अपने जयगान के स्वर छेड़े। हजारों वर्षों की विकास-यात्रा में उसने अध्यात्म और विज्ञान के क्षेत्र में चामत्कारिक प्रगति की है। उसकी इस उत्साहपूर्ण संघर्षमय लक्ष्ययात्रा का अनुलेखन साहित्य में हुआ है। साहित्य में हित का भाव है। वह हित सहित और हित के लिए ही रचा जाता है। लोकमंगल का विधान उसके हृदय में रहता

है। यह हित मानव, मानवेतर जीव-जगत्, समस्त निसर्गजात प्रकृति और अन्तरिक्ष तक प्रकीर्णित है। साहित्य जीवन की प्रतिकृति होने के साथ मित्र की तरह पथ-प्रदर्शक भी होता है।

जब मनुष्य जीवन का चित्रण साहित्य में होता है, तब उन सारे क्षेत्रों की प्रभावान्विति भी साहित्य में होती है, जिनमें मनुष्य जीवन की गति होती है। क्रियाशीलता होती है। साहित्य के साथ दर्शन, पुरातत्त्व, नृत्यशास्त्र, ज्योतिष विज्ञान, समाज विज्ञान, राजनीति विज्ञान, अर्थ विज्ञान, कृषि विज्ञान, आयुर्विज्ञान, अध्यात्म और अन्य वैज्ञानिक साहित्य में मनुष्य की क्रियमाणता के प्रमाण मिलते हैं। इन सबको मिलाकर हमने वाङ्मय नाम दिया है। विज्ञान मनुष्य के बाहरी जगत् को और अध्यात्म उसके भीतरी जगत् को सीधे-सीधे प्रभावित और प्रकाशित करता है, इस कारण विज्ञान के प्रयोगों और अध्यात्म के अनुभवों की अभिव्यक्ति साहित्य में होती है। मनुष्य के शरीर में स्थित अन्नमयकोश, प्राणमयकोश, मनोमयकोश, विज्ञानमयकोश और आनन्दमयकोश विज्ञान और अध्यात्म दोनों क्षेत्रों में यथासमय, यथानुकूल सक्रिय रहते हैं। अन्यथा जिज्ञासा का शमन नहीं हो सकता। उत्तर नहीं खोजे जा सकते। प्रौद्यौगिकी और विज्ञान दोनों में तकनीक कार्य करती है। बिना साधना की तकनीक के अध्यात्म भी अधूरा या लक्ष्य-प्राप्ति से दूर रहता है। अध्यात्म विज्ञान को नियन्त्रित करता है। विध्वंस की ओर जाने से रोकता है। सृष्टिहित को सामने रखता है। विज्ञान और अध्यात्म दोनों से अनुप्रेरित और विभूषित जीवन का शब्दायन साहित्य में होता है। दिक् और काल में स्थित मनुष्य जीवन का निःसर्ग से अविच्छेद सम्बन्धों की अमरता की भूमि पर साहित्य शब्द-अर्थ के द्वारा दूसरी सृष्टि करता है।

भारतवर्ष में ब्रह्मविद्या और अन्य विद्याएँ विज्ञान, प्राचीन विज्ञान के ही मूल सिद्धान्तों का आविष्करण, प्रतिपादन और विभूतीकरण है। भारतीय संस्कृति मूलतः ज्ञानमूलक है। वेद और श्रुति पर आधारित होने के कारण प्रायः सभी विद्याएँ इसके अनुगत हैं। इसका अंग हैं। प्राचीन विद्याएँ और आधुनिक विज्ञान में अवश्य ही तत्त्वतः और लक्ष्यगत सम्बन्ध हैं। भारतीय सनातन विद्याएँ आत्मोत्सर्ग का मार्ग प्रशस्त करने के साथ ही भौतिक जगत् आधारित भौतिक विद्याओं के द्वारा लोक-कल्याण या लोकमंगल का विधान खोजती हैं। ज्ञान का साक्षात्कार और उद्भावन ही उनका मुख्य लक्ष्य है। पश्चिम के विज्ञान या वर्तमान विज्ञान का लक्ष्य ज्ञान की खोज नहीं है। विश्व बाजार उस पर हावी है। उसका प्रयोजन अर्थ-प्राप्ति है। आयुधों का निर्माण और विश्व बाजार में उनकी खपत करना उसका उद्देश्य है। वैज्ञानिक उपकरणों द्वारा प्राप्त सुविधाएँ मनुष्य को निष्क्रिय बनाकर उसे रोगग्रस्त कर रही हैं। विज्ञान-प्रगति बड़े भारी उद्योग-जगत् में रूपान्तरित हो रही है। आजकल यन्त्र बनाने वाला ही बड़ा वैज्ञानिक है। भारती सनातन संस्कृति में ज्ञान विद्याएँ आत्मोत्सर्ग और जीवनोत्सर्ग के

गुण, चरित्र और स्वभाव प्रदान करती हैं। ये विद्याएँ एक ओर अध्यात्म साधना का अंग होती हैं, दूसरी ओर भौतिक जगत् में जीवन को सहज मार्ग प्रदान करने में सहायक होती हैं। इनसे सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय प्रभावित है। संस्कृत और अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य में इसके विभिन्न रंग बिखरे हुए हैं।

अध्यात्म और विज्ञान से सम्बन्धित मानवीय साधना, आचरण तथा कार्यों की अनेक छवियाँ सम्पूर्ण साहित्य में पुराकाल से लेकर आज तक मिलती हैं। ब्रह्म एक ही है। उसकी विद्वान अलग-अलग व्याख्या करते हैं—‘एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।’ (ऋग्वेद 1-164-46) उस एक ब्रह्म में ही सम्पूर्ण लोक स्थित है—‘तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा।’ (यजुर्वेद 31-19) आत्म-साधना की महत्ता और अध्यात्म-विद्या का लक्ष्य प्रतिपादित करते हुए कहा गया है—‘तमेव विद्वान न विभाय मृत्योः।’ (अथर्ववेद 10-8-44) कार्य-कारण रूप परात्पर ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर हृदय की अविद्या रूप ग्रन्थि टूट जाती है। समस्त सन्देह नष्ट हो जाते हैं और समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥ (मुंडक उपनिषद् 2-2-8)

अध्यात्म और विज्ञान दोनों सत्य की खोज करते हैं। अध्यात्म धर्म की स्थापना और रक्षण करता है। अध्यात्म, धर्म और सत्य से सम्बन्धित वाल्मीकि रामायण का कथन है—जगत् में सत्य ही ईश्वर है। सत्य के ही आधार पर धर्म की स्थिति रहती है। सत्य ही सबकी जड़ है। सत्य से बढ़कर कोई उत्तम गति नहीं है—

सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाऽऽश्रितः।

सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्॥

(वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकांड 13-14)

धर्म और अधर्म के बीच हुए महाभारत में धर्म की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए वेदव्यास कहते हैं कि—धर्म के द्वारा ऋषिगण इस भवसागर से पार हो गए। सम्पूर्ण लोक धर्म के आधार पर ही टिके हुए हैं। धर्म से ही देवता बढ़े हैं। धन भी धर्म के ही आश्रित है।

धर्मेणैवर्षयस्तीर्णा धर्मं लोकाः प्रतिष्ठिताः।

धर्मेण देवता ववृधुर्धर्मं चार्थः समाहितः॥ (महाभारत वनपर्व)

सभी भूत प्राणियों में वह परमात्मा स्थित है। सबमें उसी का अंश है। इस दृष्टि से सम्पूर्ण चराचर उसी के अंश से प्राणत्व धारण करता है। इस प्रकार सभी एक ही परिवार के सदस्य हैं। श्रीमद्भागवत पुराण में वेदव्यास कहते हैं—इन सब भूत प्राणियों में सर्वेश्वर भगवान ने ही अपने अंशभूत जीव के रूप में प्रवेश किया है। यह मानकर

सब प्राणियों को आदर देते हुए मन-ही-मन प्रणाम करना चाहिए—मनसैतानि भूतानि प्रणप्रदेहु मानयन्।

ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति॥ (श्रीमद्भागवत 3-29-34)

महाभारत में दृष्टि से सृष्टि के अनेक प्रसंग हैं। कौरवों के जन्म का प्रसंग महाभारत के आदिपर्व में है। गान्धारी के गर्भ से दो वर्ष बाद लोहे जैसा ठोस मांस पिंड पैदा होता है। वेदव्यास के निर्देशानुसार उसके सौ भाग करके छोटे-छोटे कुंडों में रख दिया जाता है। वेदव्यास अपनी विद्या से उनमें प्राण संचार करते हैं। उनसे दुर्योधन आदि सौ पुत्रों का जन्म होता है। इस तरह की विद्याओं और विज्ञान-सम्मत प्रसंगों के अनेक उदाहरण पुराणों में हैं। गणेश जी के मस्तक को काट देने के बाद उनके धड़ से हाथी का मस्तक जोड़ने की शल्य-क्रिया शिव करते हैं। राजा इक्ष्वाकु के उदर से ऋषि शल्यक्रिया द्वारा मान्धाता को बाहर निकालते हैं।

जिस योग विज्ञान को आज समस्त विश्व में स्वीकृति मिली है, वह भारतवर्ष की अनेक कल्पों से चली आती हुई विद्या है। योग विज्ञान सारे आधुनिक चिकित्सा विज्ञान से भी बहुत आगे का और शरीर को प्राकृतिक दृष्टि से नीरोग करने और नीरोग रखने का विज्ञान है। साथ ही यह अध्यात्म साधना का भी मार्ग प्रशस्त करता है। श्रीमद्भगवद्गीता के चौथे अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं— मैंने इस अविनाशी योग को सूर्य से कहा था। सूर्य ने अपने पुत्र वैवस्वत् मनु से कहा। मनु ने पुत्र इक्ष्वाकु से कहा। हे परन्तप अर्जुन! तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है, इसलिए इस पुरातन योग को तुझसे कहा है। क्योंकि यह बड़ा ही उत्तम रहस्य है। अर्जुन प्रश्न करता है— आपका जन्म तो अभी इसी युग का है। सूर्य का जन्म कल्पादि में हो चुका था। तब कैसे मानूँ कि आपने सूर्य से यह योग कहा था। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं— हे परन्तप अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं। इस रहस्य को तू नहीं जानता। मैं जानता हूँ। मैं अजन्मा और अविनाशी रूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियों का ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृति को अधीन करके अपनी योगमाया से प्रकट होता हूँ—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।

तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥

अजोऽपि सन्नव्यायात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

(श्रीमद्भगवद्गीता 4, 5, 6)

अध्यात्म को विज्ञान भी कहा गया है। इसकी सिद्धि पाने वाले चरित्रों के अनेक कार्य ऐसे हैं, जो वैज्ञानिक परीक्षण की माँग करते हैं। अगस्त ऋषि द्वारा समुद्र को पी जाना, पवनसुत द्वारा समुद्र लाँघना, श्रीकृष्ण द्वारा गोवर्धन पर्वत को उठाना और

हनुमानजी द्वारा द्रोणगिरि को उठाकर लाना, सहस्रबाहु द्वारा नर्मदा के प्रवाह को रोकना, अनेक अवसरों पर आकाशवाणी होना, संजय की दिव्य-दृष्टि से महाभारत की युद्ध-भूमि पर हो रहे युद्ध का दृश्य देखना और वर्णन करना, काया परिवर्तन, परकाया प्रवेश, पितामह भीष्म द्वारा इच्छामृत्यु का वरण करना, सीताजी का अग्नि परीक्षा में सुरक्षित निकलना, आकाश से अमृत वर्षा होना, देवताओं का विमानों पर बैठकर आकाश में आना और पुष्पवर्षा करना, पुरुरवा का क्षेत्र-विशेष में प्रवेश करने पर पुरुष से स्त्री बन जाना, वामन भगवान द्वारा तीन पगों से त्रिलोक को नाप लेना, कृष्ण द्वारा कालिय नाग को नाथना, माता के गर्भ में अभिमन्यु द्वारा चक्रव्यूह भेदन और अष्टावक्र द्वारा अन्य विद्या को जान लेना, यज्ञ की आध्यात्मिक और वैज्ञानिक स्वीकृति, सूर्य उपासना आदि अनेक अध्यात्म विद्या से सम्पृक्त प्रसंग हैं, जिनका वर्णन भारतीय साहित्य में खूब हुआ है। उनके विज्ञान-सम्मत आधार खोजे जा रहे हैं। गोस्वामी तुलसीदास 'रामचरितमानस' आरम्भ करते हुए कहते हैं—

सीतारामगुणग्राम पुण्यारण्य विहारिणौ।
वन्दे विशुद्धविज्ञानो कवीश्वर कपीश्वरौ॥

तुलसीदास रचित 'रामचरितमानस' अध्यात्म और विज्ञान का अद्भुत समन्वय प्रस्तुत करता है। तुलसीदास ग्रन्थ के आरम्भ में स्पष्ट कहते हैं कि—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थों की विवेचना विज्ञान-सम्मत करूँगा—'अर्थ, धर्म, कामादिक चारी, कहव ज्ञान-विज्ञान विचारी।' विश्व में समता का स्थापन भी विज्ञान के द्वारा ही सम्भव है। 'बिनु विज्ञान की समता आवइ।' तुलसीदास ने अपनी भक्ति की विवेचना और प्रतिपादन पूर्णतः विज्ञान-सम्मत किया है। भगवान श्रीराम की माया को यदि ऊर्जा के रूप में स्वीकार लें तो बहुत-सी गुत्थियाँ वैज्ञानिक ढंग से सुलझ सकती हैं। इस पूरे ब्रह्मांड का निर्माण ऊर्जा के आधार पर ही उसे विस्तारित और नियन्त्रित करके किया गया है—

श्रुति सेतु पालक राम तुम, जगदीश माया जानकी।
जो सुजति जगु पालति, हरति रुख पाइ कृपानिधान की॥

(अयोध्याकांड, दोहा 125 के बाद)

विशिष्टाद्वैत, अद्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैत, हठयोग, सहजयोग, कुंडलिनी जागरण, षट्चक्रभेदन, प्राणायाम, पूरक, कुम्भक, रेचक क्रियाएँ, सुरति, निरति, सहस्रार, शून्य शिखर, आदि-आदि द्वारा अध्यात्म के साधना पथ का भारतीय साहित्य में ज्ञान-सम्मत निदर्शन हुआ है। कबीर की अद्भुत वाणी से अध्यात्म और विज्ञान का अनुपम समन्वय के साथ उद्घाटन हुआ है—

ज्यों तिल माहिं तेल है, ज्यों चकमक माहिं आग।
तेरा साईं तुझ में, जाग सके तो जाग॥

कबीर अध्यात्म साधना से जिस लक्ष्य-देश को प्रकट करते हैं वह ऐसा देश है जहाँ चन्द्र-सूरज, दिन-रात, कुछ नहीं हैं। ऐसे परमशुद्ध लोक में साधक पहुँचता है—जहाँ नहीं चन्दा, भाण नहीं रजनी, नहीं रे धूप नहीं छाया, रे धरमी, वहाँ तेरा हंसा रेवाया है।

द्विवेदी युग में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के सम्पादन में 'सरस्वती' पत्रिका में स्वयं द्विवेदी जी एवं अन्य अनेक लेखकों के विज्ञान सम्बन्धी लेख 1903 से 1925 तक लगातार प्रकाशित हुए हैं। इनसे भारतीय समाज में वैज्ञानिक दृष्टि का प्रसार हुआ है। करुणा से भरे स्वर में महादेवी वर्मा विश्वास के साथ गाती हैं—'तुम हो विधु के बिम्ब और मैं मुग्धा रश्मि अजान।' भारतीय सनातन परम्परा में गहरी पैठ रखने वाले महाप्राण निराला कहते हैं—

'तुम तुंग हिमालय शृंग और मैं चंचल गति सुरसरिता।
तुम विमल हृदय उच्छ्वास और मैं कान्त कामिनी कविता॥'

जयशंकर प्रसाद 'कामायनी' महाकाव्य के आरम्भ में हिम और जल के रूप में सघन-तरल के माध्यम से एक ही तत्त्व की प्रधानता प्रतिपादित करते हैं। 'श्रद्धा' सर्ग में श्रद्धा मनु से कहती है—

शक्ति के विद्युत्कण जो व्यस्त
विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय
समन्वय उनका करें समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय।

साहित्य अध्यात्म और विज्ञान के समवेत समन्वय की सारस्वत भूमि है।

मनुष्य के स्वरूप का गांधी एवं श्री अरविन्द के दर्शन में विश्लेषण

संजय कुमार शुक्ला*

I

गांधी के मनुष्य के प्रत्यय पर उनकी धार्मिक दृष्टि का प्रभाव सहजता से दृष्टिगोचर होता है। वे हिन्दू शास्त्रों (उपनिषद्, गीता एवं वेदान्त दर्शन) की प्रमाणिकता को स्वीकार करते हुए ये वर्ण-आश्रम व्यवस्था, गो-रक्षा, पुनर्जन्म में आस्था गांधी-जीवनदृष्टि के महत्वपूर्ण आयाम हैं। वेदान्तवादी परम्परा के अनुरूप समस्त सत्ताओं में एकात्मकता, आत्मा के शाश्वत, नित्य स्वरूप के अतिरिक्त उनकी यह मान्यता है कि आत्म-साक्षात्कार, अनुशासन एवं चित्त शुद्धि द्वारा ही संभव है जिसके परिणामतः पुनर्जन्म के चक्र से मुक्ति प्राप्त होती है। गांधी के दर्शन का मूलभूत प्रारम्भ बिन्दु 'ईश्वर सत्य है' किन्तु कालान्तर में हमें प्राप्य है कि 'सत्य ईश्वर है'। 'ईश्वर सत्य है' एक तात्त्विक कथन है जबकि 'सत्य ईश्वर है' वस्तुतः मूल्यपरक कथन है। 'ईश्वर सत्य है' का निहितार्थ यह है कि सत्य ही एक मात्र कोटि है जिसका ईश्वर के साथ एकीकरण (तादात्म्य) संभव है। वे सत्य की उत्पत्ति सत् से करते हैं और सत् वह है जिसका निषेध संभव नहीं है। सत्य सत् का यथार्थ ज्ञान है और इस आधार पर हम यह निःसृत कर सकते हैं कि सत् को आत्मसात करना ही सत्य है। उनके इस दार्शनिक दृष्टिकोण में परिवर्तन का औचित्य यह है कि ईश्वर के प्रत्यय पर संशय अथवा निषेध संभव है किन्तु सत्य के प्रत्यय की वस्तुनिष्ठ वैधता असंदिग्ध है अर्थात् सत्य का निषेध आत्म-व्याधातक है। गांधी की दृष्टि में असंदिग्ध सत्य ही ईश्वर है और मानव अस्तित्व ऐसे सत्य में ही मूलित है। उनके इस अभिकथन का दार्शनिक महत्व यह है कि वे सत्य को नियम अथवा नियामक शक्ति के रूप में ग्रहण करते हैं जो की समस्त सृष्टि को संचालित एवं व्यवस्थित करता है और जिसके अभाव में सृष्टि विघटित हो

जाएगी। गांधी द्वारा प्रतिपादित 'सत्य ईश्वर है' की व्यवहारिक उपयोगिता एवं धार्मिक मूल्य है। उनकी दृष्टि में 'ईश्वर' को धार्मिक आस्था का चरम विषय मानने पर मतभेदों के लिए पर्याप्त स्थान रहता है किन्तु 'सत्य' को धार्मिक आस्था का विषय स्वीकार करने पर सभी मतभेद अथवा विरोध तिरोहित हो जाते हैं। प्रेम ही वह संगठनात्मक शक्ति अथवा एकात्मकता का सूत्र है जो विभिन्न सजीव प्राणियों को परस्पर संगठित एवं सुनियोजित करता है। प्रेम ही जीवन है एवं घृणा विनाश का कारण है। अतः सत्य सृष्टि का अधिष्ठान है एवं उसका स्वरूप नियामक है। मानवीय अस्तित्व सत्य में मूलित है उसका स्वरूप प्रेम है। जीवन की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति प्रेम है किन्तु हम सदैव इसके अनुरूप जीवन-यापन नहीं करते हैं। मनुष्य के जीवन का लक्ष्य अलगाव से मुक्ति है और इस लक्ष्य प्राप्ति का साधन अहिंसा है। सत्य के अनुरूप जीवन के प्रबन्धन के लिए आवश्यक है कि सत्य को जानना। गांधी सत्य को निरपेक्ष एवं सापेक्ष सत्य के रूप में विभक्त करते हैं। उनकी मान्यता है कि जब तक निरपेक्ष सत्य बोधित न हो जाए सापेक्ष सत्य को मार्गदर्शक के रूप में ग्रहण करना चाहिए। 'अंतर्आत्मा की आवाज'¹ सापेक्ष सत्य है जो की एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में भिन्न है अर्थात् मानव मस्तिष्क का विकास सभी व्यक्तियों के लिए समान नहीं है। वे यहाँ पर सत्य को मानवीय परिस्थितियों के संदर्भ में ग्रहण करते हैं जो सदैव निर्णय की अपेक्षा रखता है। मानवीय (अस्तित्वात्मक) परिस्थितियों में व्यक्ति समस्त वस्तुनिष्ठ कारकों एवं तथ्यात्मक अंतर्वस्तुओं को ध्यान में रखकर यह निर्णय करता है कि कौन सा विकल्प उचित है। अतः हम कह सकते हैं कि आत्मनिष्ठता का तत्व मानवीय चुनाव में एक महत्वपूर्ण हेतु है जो हमें नैतिक द्वन्द्व में निर्णय लेने की क्षमता प्रदान करता है। हमें जब तक निरपेक्ष सत्य की अनुभूति न हो जाए तब तक सापेक्ष सत्य ही अपरिहार्य मार्गदर्शक की भूमिका का निर्वहन करता है यद्यपि यह दो शर्तों के आधीन है—1. सत्य के समर्थक को सदैव पूर्वाग्रहों से मुक्त एवं स्वयं के परिष्कार अथवा सुधार के लिए तत्पर होना चाहिए। 2. हमें अवश्य आत्मानुशासन की प्रक्रिया में सम्मिलित अथवा सहभागी होना चाहिए जिसका उद्देश्य आत्मनिष्ठता के प्रभाव को सीमित करना है जिससे सापेक्ष एवं निरपेक्ष सत्य के मध्य दूरी यदि पूर्ण समाप्त न हो तो भी कम अवश्य हो। गांधी का महत्वपूर्ण कथन है कि "यदि सत्य के समुद्र में सुगमता से तैरना है तो तुम स्वयं को शून्य में घटित कर दो।"² शून्य में घटित करने का तात्पर्य है कि व्यक्ति स्वयं को सत्य के ग्रहण के योग्य बनाए और जिसके लिए विनम्रता नितान्त आवश्यक है एवं उसे भारतीय परम्परा में 'चित्तशुद्धि' से अभिहित करते हैं। हम सत्य के प्रति दो दृष्टिकोणों में विभेद कर सकते हैं : प्रथम दृष्टिकोण वैचारिक है जिसके अंतर्गत सिद्धान्तों एवं प्रारूपों की संरचना की जाती है तो वहीं द्वितीय दृष्टिकोण के अंतर्गत पूर्ण ग्राह्यता का तत्व निहित होता है। पूर्ण ग्राह्यता में

*एसोशियेट प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग, यूइंग क्रिश्चियन कालेज, इलाहाबाद

II

मात्र सैद्धान्तिक निर्मिति का निषेध आवश्यक है। हमारे मन अथवा चित्त की शुद्धि है—जिससे की सत्य उद्घाटित हो। गांधी सत्य के द्वितीय दृष्टिकोण के समर्थक हैं जहाँ निरपेक्ष सत्य की अनुभूति होती है। सैद्धान्तिक सत्य काल सापेक्ष हैं अर्थात् कालान्तर में उसके निषेध अथवा खण्डन की संभावना होती है, जबकि निरपेक्ष सत्य जो की अनुभूतिपरक है काल निरपेक्ष होने के कारण शाश्वत एवं असंदिग्ध है।

गांधी ने मानव अस्तित्व के सीमित होने का दो आधार निरूपित किया है— प्रथमतः मनुष्य शरीरधारी है एवं द्वितीयतः मनुष्य समाज की सीमाओं से भी आवद्ध है। उदाहरणार्थ ऐतिहासिक संदर्भ, समुदाय, धर्म एवं परम्परायें जिसके अंतर्गत उसका जन्म होता है और जिन्हें वह स्वयं के लिए नहीं चुनता है अर्थात् इन बहुविध परिदृश्य में संकल्प (वरण) की स्वतंत्रता का अभाव होता है। गांधी शरीर की अनिवार्य विषयनिष्ठता के आधुनिक विचार से अप्रभावित हैं जिसे हम के.सी. भट्टाचार्य एवं यूरोपीय अस्तित्ववादी विचारकों के दर्शन में पाते हैं। गांधी का शरीर के प्रति दृष्टिकोण पारंपरिक धर्मनिष्ठता एवं नैतिकता से परिपूर्ण व्यक्ति का है। शरीर के प्रति दो प्रकार का दृष्टिकोण आध्यात्मिक साधना की दृष्टि से संभव है—1. उच्चतर आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए देहासक्ति एवं ऐन्द्रिक सुख की इच्छा का त्याग अपरिहार्य है और यह इन्द्रिय निग्रह एवं नैष्ठिक ब्रह्मचर्य से ही संभव है। गांधी ने नैतिक जीवन में ब्रह्मचर्य को सर्वाधिक महत्व दिया है। 2. शरीर आत्मा को अपूर्ण अथवा उसमें विकार तो अवश्य उत्पन्न करता है किन्तु आध्यात्मिक जीवन का लक्ष्य शरीर का रूपान्तरण है जिससे वह आध्यात्मिक जीवन यापन अथवा अस्तित्व में उपयुक्त उपकरण अथवा सहकारी सिद्ध हो सके। हम इस प्रकार का दृष्टिकोण श्री अरविन्द के दर्शन में सहज रूप से पाते हैं। मानव हृदय को कुरुक्षेत्र की उपमा देते हैं जिसमें शुभ एवं अशुभ का सतत युद्ध होता है। अतः यद्यपि शरीर की उत्पत्ति पाप से होती है किन्तु इसे मुक्ति के मार्ग में रूपान्तरित किया जा सकता है।³ गांधी ने अशुभ को तथ्य के रूप में स्वीकार किया है और उनके विरुद्ध निराशावादी एवं आशावादी जैसे दो विरोधी आक्षेप प्रस्तुत किए गए हैं : निराशावादी क्योंकि वे जीवन के निषेधात्मक पक्ष (अशुभ, पापादि) को रेखांकित करते हैं और आशावादी इसलिए कि वे जीवन के नैसर्गिक (जन्मजात) शुभत्व को भी स्वीकार करते हैं। वे हृदय परिवर्तन को जीवन का महत्वपूर्ण आयाम मानते हैं और उनका सारगर्भित कथन है कि 'पाप से घृणा करो पापी से नहीं'। सत्याग्रही को कष्ट भी बिना किसी दुर्भावना के सहन करना चाहिए क्योंकि उसका नैतिक बल बुरे व्यक्तियों का भी हृदय परिवर्तन कर सकता है। गांधी दर्शन के विरुद्ध उपरोक्त आक्षेप आंशिक दृष्टियों का परिणाम है : मनुष्य का जीवन शुभ एवं अशुभ का युद्ध स्थल है—स्वार्थपरता एवं आत्म-बलिदान, आत्म-प्रेम एवं परोपकार। अतः मनुष्य का सतत प्रयास अशुभ पर शुभ की विजय होना चाहिए।

गांधी एक ओर तो मनुष्य में सार्वभौमिकता एवं आत्मिक एकता अथवा एकत्व को स्वीकार करते हैं, तो वहीं दूसरी ओर व्यक्ति की विशिष्ट सीमाओं को भी महत्व प्रदान करते हैं। मनुष्य की आध्यात्मिक एकता तात्त्विक एकता का द्योतक है, जबकि व्यक्ति की विशिष्टता उसके सांस्कृतिक परिवेश एवं ऐतिहासिकता का परिचायक है। उनके अनुसार कुछ सीमायें अथवा प्रतिबन्ध तो मानवीय परिस्थिति अथवा अवस्था के लिए अपरिहार्य हैं : गांधी का वर्ण-व्यवस्था के प्रति दृष्टिकोण ऐसी सीमाओं में से एक है। प्रत्येक व्यक्ति का जन्म एक निश्चित वर्ण में होता है और जिसके अनुरूप उसे स्वधर्म का पालन करना है एवं इस सीमा का अतिक्रमण न तो संभव और न ही वांछनीय है। वे उसे प्रकृति का शाश्वत नियम मानते हैं। यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि वर्ण-व्यवस्था चाहे भले ही आनुवंशिक हो किन्तु गांधी की दृष्टि में इसके अंतर्गत उच्च एवं निम्न का विभेद नहीं है और इस रूप में वर्तमान जाति-व्यवस्था से भिन्न है। वर्ण-व्यवस्था व्यक्ति एवं व्यक्तित्व को सीमित करती है क्योंकि वह न तो उसका वरण करता है और न अतिक्रमण कर सकता है अपितु उस व्यवस्था के अंतर्गत अवसरों का सर्वोत्तम उपयोग अपेक्षित है। मानवीय परिस्थिति को सांस्कृतिक परम्परा एवं समुदाय जिसमें व्यक्ति का जन्म होता है भी सीमित करते हैं और गांधी की इस संदर्भ में मान्यता है कि हमें उसका सम्मान करना चाहिए। यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि वे आध्यात्मिक (सार्वभौम) मानवतावाद के पक्षधर हैं किन्तु गांधी स्वदेशी की विचारधारा को भी महिमामण्डित करते हैं। उनकी समस्त प्रकृति एवं मनुष्य की एकात्मिकता में निष्ठा थी किन्तु एकात्मिकता का स्वरूप अभिन्न नहीं है। इसके विपरीत स्थानीय विभिन्नता, परिवेशीय अन्तर, पारंपरिक संरचना आदि एकता पर अध्यारोपित होती हैं। वे स्वदेशी के सिद्धान्त को इस रूप में प्रस्तुत करते हैं : स्वदेशी हमारे अंदर वह भावना है जो हमें निकटस्थ परिवेश की संस्कृति एवं संप्रदाय के प्रयोग में सीमित करती है अथवा दूसरे शब्दों में दूरस्थ को बहिष्कृत करना है। यह अत्यन्त ही सुबोध है कि स्वदेशी की अवधारणा किस प्रकार गांधी के धार्मिक, राजनैतिक एवं आर्थिक विचारों को निर्धारित करती है। धर्म के क्षेत्र में अपेक्षित है कि व्यक्ति अपने धर्म का निष्ठा से पालन करें किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है वह सब कुछ स्वीकार कर ले जो पीढ़ियों एवं परम्परा से प्राप्य है। परिवर्तन यदि आवश्यक हो तो वह बाह्य आरोपित न होकर अपितु आत्म प्रेरित हो। वे सर्व-धर्म समभाव अथवा सर्व-धर्म समन्वय के पक्षधर हैं अर्थात् सभी धर्मों के प्रति समान आदर का भाव आदर्श स्थिति है। राजनैतिक परिदृश्य में स्वदेशी का अभिप्राय है देशज संस्थाओं का प्रयोग जिसे हम ग्राम पंचायत के रूप में ग्रहण कर सकते हैं जो कि स्थानिक ग्राम स्वायत्तता का आदर्श है। आर्थिक दृष्टि से स्वराज का निहितार्थ है हमें स्थानिक तकनीक एवं उत्पादन को दूरस्थ देश की

तकनीक एवं उत्पादन पर वरीयता देनी चाहिए क्योंकि तभी आर्थिक स्वावलंबन का लक्ष्य प्राप्त होगा। गांधी ने चर्खा एवं कुटीर उद्योग के प्रोत्साहन को राष्ट्र की आर्थिक नीति का आधार माना है। यदि हम शिक्षा के क्षेत्र में स्वदेशी की अवधारणा को घटित करें तो आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति की शिक्षा मातृ भाषा में होनी चाहिए एवं इसके अतिरिक्त प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञान का अध्ययन स्वयं के प्राकृतिक एवं मानवीय परिवेश (पर्यावरण) के निरीक्षण एवं विमर्श पर आधारित हो।

यह एक सामान्य धारणा है कि मनुष्य के सार्वभौमिकता की खोज के लिए स्वयं की संस्कृति में विशिष्टताओं का परित्याग अनिवार्य है, किन्तु गांधी को यह विचार मान्य नहीं है। उनकी दृष्टि में सार्वभौमिकता की प्राप्ति के लिए यह अति आवश्यक है कि हम अपनी परम्परा में निष्ठावान रहते हुए उसके अंतर्गत ही आवश्यकता अनुरूप परिवर्तन करें। वे सार्वभौमिकता को विशेष एवं मूर्त में प्रतिष्ठित करते हैं और इस रूप में उन्हें अमूर्त सामान्य अथवा सार्वभौम स्वीकार्य नहीं है। मनुष्य के कर्मों के मूल्यांकन का क्या आधार है को लेकर गांधी में अनेक विचार प्राप्य है। उनके अनुसार यदि कोई मेरा कर्म (आध्यात्मिक) अव्यवहारिक सिद्ध होता है तो उसे असफल घोषित करना चाहिए।⁴ गांधी के अनुसार मनुष्य के कर्मों के मूल्यांकन में हमें इस निकष का प्रयोग करना चाहिए कि क्या वह लोक कल्याण में सहायक है अथवा नहीं। गांधी के इन विचारों से यह निष्कर्ष नहीं निःसृत होता कि उनका धर्म एवं नैतिकता के प्रति दृष्टिकोण अर्थक्रियावादी है। अर्थक्रियावादियों से भिन्न वे निरपेक्ष एवं शाश्वत नैतिक नियमों को स्वीकार करते हैं। शुभत्व का जीवन वह नहीं हो जो हमें शुभ प्रदान करें अपितु वह शाश्वत एवं नित्य प्रकृति का नियम है। किसी कर्म का शुभत्व परिणाम के द्वारा निर्धारित नहीं होता अपितु कर्मों के नैतिक मूल्यांकन का आधार कर्ता की प्रेरणा एवं अभिप्राय है। काण्ट के ही भांति गांधी की भी यह मान्यता है कि केवल वही मनुष्य सद्चरित्र है जो उचित का पालन इसलिए करता है कि उचित उचित है।⁵ गांधी के नैतिक विचार में काण्ट एवं उपयोगितावाद के समन्वय की भी संभावना परिलक्षित होती है क्योंकि सर्वोच्च नैतिक नियम में मनुष्य के कल्याण का भाव निहित होता है। अतः हम सहजरूपेण यह कह सकते हैं कि गांधी के नीतिशास्त्र में काण्ट के सर्वोच्च नैतिक नियम एवं 'कर्तव्य के लिए कर्तव्य' का सिद्धान्त प्रतिध्वनित होता है।

गांधी के मनुष्य के स्वरूप एवं नियति सम्मत विचारों को निष्कर्षरूपेण हम इस प्रकार से प्रस्तुत कर सकते हैं—

1. मनुष्य सत्य में मूलित होता है और चाहे ऐसा प्रतीत होता हो कि उसका सत्य से पूर्ण विलगाव हो गया है किन्तु यह संभव नहीं क्योंकि सत्य के रूप में प्रेम मानवीय अस्तित्व को जीवित रखता है। सत्याग्रह मनुष्य का परम कर्तव्य है चाहे वह

सापेक्ष सत्य पर आधारित ही क्यों न हो। सापेक्ष से निरपेक्ष सत्य की यात्रा लम्बी एवं दुष्कर है जो कि कठोर आत्मानुशासन एवं अहिंसा की अपेक्षा रखती है।

2. मानवीय अस्तित्व एवं प्रयास को दो परिस्थितियाँ सीमित करती हैं: शरीर एवं सामाजिक-ऐतिहासिक अस्तित्व। यह दोनों प्रारम्भ में बंधन का हेतु हैं किन्तु कालान्तर में मुक्ति का द्वार सिद्ध होते हैं। शरीर मानव सेवा को कर्तव्य के रूप में प्रतिष्ठित करता है तो वहीं सामाजिक अस्तित्व स्वदेशी को कर्तव्य मानता है।

3. गांधी के मनुष्य की अवधारणा ईसाई एवं वेदान्त के मनुष्य की अवधारणाओं के मध्य दोलायमान होती है। वे एक ओर ईसाई मत का समर्थन करते हैं जिसमें मनुष्य का स्वरूप अपूर्ण, सीमित एवं पापी माना गया है तो वहीं दूसरी ओर वेदान्त के विचार से सहमति व्यक्त करते हैं कि पूर्णत्व (मोक्ष) प्राप्ति आत्मानुशासन एवं चित्त शुद्धि के द्वारा संभव है। पापी होने की चेतना मनुष्य में व्याप्त होने पर भी वेदान्त परम्परा के प्रभाव से वह हमें मनोग्रस्त नहीं करती है।

4. उनकी मनुष्य की अवधारणा में हम एक और दोलायमान गति को पाते हैं जिसके एक अन्त्य पर शरीर एवं आत्मा का द्वैत तो वहीं दूसरे अन्त्य पर द्वैत का समाहार है। गांधी शरीर को बंदीग्रह एवं मुक्ति के द्वार दोनों रूपों में कल्पित करते हैं। वे शारीरिक श्रम को विशेष महत्व प्रदान करते हैं जिसे हम 'अन्नदायी-श्रम' के सिद्धान्त में पाते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को इतना शारीरिक श्रम तो अवश्य करना चाहिए जो कि उसके दैनिक भोजन के लिए पर्याप्त हो। यहाँ पर एक सामान्य प्रश्न उपस्थापित किया जा सकता है कि क्या कोई बौद्धिक (मानसिक) श्रम से रोजी रोटी अर्जित नहीं कर सकता है ? गांधी इस प्रश्न का उत्तर निषेधात्मक रूप में देते हुए प्रतिपादित करते हैं कि शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति शरीर के द्वारा ही होनी चाहिए। बौद्धिक श्रम की आवश्यकता आत्मा के लिए है।⁶ यह स्पष्टरूपेण मन-शरीर द्वैतवाद की स्वीकृति है। 'अन्नदायी-श्रम' सिद्धान्त की एक और व्याख्या संभव है जो कि मन-शरीर के द्वैत से मुक्त है। भौतिक उत्पादक श्रम निःसन्देह भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन है, किन्तु यह शारीरिक क्रिया मात्र भौतिक शरीर का संरक्षण ही नहीं करती अपितु यह आध्यात्मिक क्रिया भी है जिसका उद्देश्य व्यक्ति का पूर्ण आध्यात्मिक कल्याण है। मूल्यों का सृजन मनुष्य का मूलभूत आध्यात्मिक कार्य है। अतः 'अन्नदायी-श्रम' के सिद्धान्त को द्वैतवादी तात्त्विक दृष्टि से मुक्त करके भी विचार संभव है।

5. पाश्चात्य परम्परा में मनुष्य को विविध ढंग से परिभाषित किया गया है यथा- अरस्तु की दृष्टि में मनुष्य एक बौद्धिक एवं सामाजिक प्राणी है, फ्रायड तथा मनोवैज्ञानिक परम्परा के अन्य विचारक अचेतन की इच्छाओं एवं आकांक्षाओं के आधार पर मनुष्य के कर्म एवं प्रवृत्तियों को निर्धारित करने का प्रयास करते हैं तो वहीं मार्क्स एवं उसके अनुयायी आर्थिक निर्धारणवाद के आधार पर मनुष्य को आर्थिक

प्राणी के रूप में कल्पित करते हैं। गांधी की दृष्टि में यह समस्त विचार मानव की बाह्य अभिव्यक्तियों को चित्रित करते हैं, किन्तु मनुष्य का आंतरिक (मूल) पक्ष उपेक्षित रह जाता है। उनकी यह मान्यता है कि मनुष्य एक जटिल प्राणी है क्योंकि मनुष्य भौतिक पक्ष तक ही सीमित नहीं है अपितु मनुष्य का मूल स्वरूप आध्यात्मिक है। मनुष्य के आध्यात्मिक पक्ष के अंतर्गत मानवीय चेतना, अंतरात्मा, विवेक, संकल्प शक्ति, आकांक्षाएँ, सौन्दर्य बोध, भावनात्मक अनुभूतियाँ आदि समाहित होती हैं। वस्तुतः गांधी की मानव अवधारणा उनकी तात्विक मान्यताओं पर आधारित हैं जिसके अनुसार संपूर्ण जगत् एवं मनुष्य के संदर्भ में अनुभूति ईश्वरीय रूप है। हर मनुष्य में ईश्वरत्व का अंश है एवं जिसकी अभिव्यक्ति विवेक शक्ति, अंतरात्मा की आवाज, संकल्प-स्वातंत्र्य के रूप में होती है। उनकी मूल मान्यता है कि हर व्यक्ति में अच्छाई का अंश विद्यमान है जो आध्यात्मिक उद्दीपन से जागृत होता है। अतः मनुष्य के अंतर में शुभत्व अथवा ईश्वरत्व का वास है जो आंतरिक समरूपता अथवा आध्यात्मिक एकता को स्थापित करता है।

III

श्री अरविन्द के मानववाद को परिपूर्ण अथवा समग्र मानववाद से व्यवहृत किया जाता है जिसके अंतर्गत मनुष्य की संरचना एवं स्वरूप के अतिरिक्त मनुष्य के आध्यात्मिक विकास की अवधारणा है जिससे मानव जीवन का प्रत्येक पहलू संबद्ध है। मनुष्य को केन्द्र मानकर प्रायः जितनी भी मानववादी विचारधाराओं ने अपने दृष्टिकोण स्थापित किए हैं उन्होंने मनुष्य के मूल स्वरूप को समझने का सम्यक् प्रयास नहीं किया है। मनुष्य को मात्र बौद्धिक-सामाजिक प्राणी के रूप में कल्पित करना अथवा उसे जैविक आर्थिक प्राणी के रूप में निरूपित करना ऐकान्तिक दोष है जिसके फलस्वरूप इन मानववादी दृष्टिकोणों का प्रस्थान-बिन्दु अत्यन्त ही संकीर्ण है। श्री अरविन्द के समग्र मानववाद में मनुष्य की आध्यात्मिक सत्ता को स्वीकार किया गया है। उनकी दृष्टि में शरीर, प्राण, मन एवं आत्मा मानव व्यक्तित्व के चार महत्वपूर्ण घटक हैं। सचेतन, अवचेतन और अतिचेतन मानवीय चेतना के त्रिविध स्तर हैं जो कि मानव व्यक्तित्व के त्रिविध आयाम-व्यक्तिगत, विश्वगत एवं विश्वातीत अथवा परात्पर- को उद्घाटित करते हैं। व्यक्तित्व में सचेतन तत्व वह है जिसे हम सामान्य अहं का व्यक्तित्व अथवा व्यक्तिगत से व्यक्त करते हैं। मनुष्य में प्रच्छन्न स्तर पर एक अतिरिक्त क्षेत्र अवचेतन का है जिसके द्वारा व्यक्तिगत चेतना विश्वगत चेतना में सहभागी होती है तथा उसे प्रत्यक्ष का अनुभव कराती है। अतिचेतन उसके अंदर का परात्पर तत्व है। अतः श्री अरविन्द की यह मान्यता है कि मनुष्य शरीर, प्राण, मन एवं चैत्य पुरुष से युक्त एक संश्लिष्ट सत्ता है। वह मात्र शरीर, प्राण एवं मन की प्रकृति एवं प्रवृत्तियों से ही

संचालित नहीं होता अपितु अपनी पृष्ठभूमि में विद्यमान चैत्य पुरुष से भी नियंत्रित एवं निर्देशित होता है। मनुष्य में अंतर्निहित चैत्य तत्व ही मनुष्य की भवितव्यता का निर्धारक है। मनुष्य का यह वैशिष्ट्य है कि जगत् में रहते हुए चेतना का पर्याप्त विकास आत्म-ज्ञान से करता है जो कि दिव्य रूपान्तरण को संभव बनाता है। यह तो निर्विवाद रूप से सत्य है कि मनुष्य पशु-स्वभाव, जीवन और उसकी क्रियाओं से यात्रा प्रारम्भ करता है, परन्तु उसका लक्ष्य दिव्य सत्ता-दिव्य जीवन है।⁷ पाश्चात्य दर्शन में लॉयड मार्गन एवं सैमुयल अलेक्जेन्डर ने अतिक्रामी उद्वासवाद में स्वीकार किया कि जड़ तत्व से प्राण एवं मन का विकास हुआ है किन्तु वे उसकी व्याख्या करने में सफल नहीं होते। भारतीय दार्शनिक परम्परा में वेदान्त दर्शन इसकी व्याख्या सुगमता से कर लेता है क्योंकि उसकी यह मान्यता है कि पहले से ही प्राण तत्व जड़ में और मन प्राण में अंतर्लीन है और इस क्रम-परम्परा में यह स्वीकार करने में भी कोई आपत्ति नहीं कि हमारी मानसिक चेतना ऐसी अवस्थाओं को अंतर्निहित कर सकती है जो मन से परे है। अतः ऐसी दशा में ईश्वर, ज्योति, आनन्द, मुक्ति एवं अमरता के प्रति मनुष्य का जो अदम्य अंतर्वेग है वह इस क्रम परम्परा में अपना समुचित स्थान ग्रहण करता दिखलाई पड़ता है।⁸

श्री अरविन्द की दृष्टि में मनुष्य एक संक्रमणशील सत्ता है। चेतना के विकास में मनुष्य का आविर्भाव अन्तिम नहीं है। मानसिक चेतना क्रम विकास का एक सोपान है किन्तु अन्तिम गन्तव्य नहीं है। हमारे अंतः में मनुष्य को केन्द्र में रखते हुए जो दृष्टि विकसित होती है उसमें मात्र शरीर, प्राण एवं मन की शक्तियाँ एवं क्षमताओं का उपयोग नहीं होता अपितु चैत्य पुरुष का भी उपयोग है जो मनुष्य को क्रम-विकास के अगले सोपान के लिए अभिप्रेरित करता है। हम यह अनुभूत करते हैं कि मन के साथ ही व्यष्टि सत्ताओं में मनुष्य ने उच्चतर जीवन और उसके प्रकाश की एक झलक प्राप्त की है। वह अपने अंतःस्थल में प्रकाशयुक्त उच्चतर जीवन की अभीप्सा एवं अंतर्प्रेरणा का अनुभव करता है। मनुष्य की चेतना का विकास ऊर्ध्वगमन, व्यापकता एवं संश्लेषण की त्रिदिशात्मक प्रक्रिया है। व्यष्टि सत्ता के रूप में मनुष्य का विकास चेतना के ऊर्ध्वगमन (उन्नयन) द्वारा होता है। मनुष्य की चेतना जड़ से प्राण और प्राण से मन की ऊर्ध्वारोहण करती है। चेतना की क्रमिक व्यापकता के फलस्वरूप जैसे ही पुराने तत्वों से किसी नए तत्व का आविर्भाव या उन्मेष होता है वैसे ही नवीन तत्व पुरानों में संगतिपूर्ण बनकर स्थापित होता है। चेतना के विकास-क्रम में ऊर्ध्वगमन एवं व्यापकता के अतिरिक्त तीसरा महत्वपूर्ण तत्व संश्लेषण है। संश्लेषण में उच्चतर तत्व का अवतरण और निम्नतर का ऊर्ध्वगमन रूपी द्विविध प्रक्रिया समन्वित होती है। पाश्चात्य मानववादी चिंतन में मनुष्य की प्रस्थिति एवं उससे जनित समस्याओं को पार्थिव स्तर पर ही विश्लेषित करने की परम्परा है, जबकि

श्री अरविन्द के समग्र मानववाद में मनुष्य के दिव्य-जीवन के अभिव्यक्ति की संभावना त्रिविध रूपान्तरण के माध्यम से सुगम एवं ग्राह्य है। वे इस त्रिविध रूपान्तरण के अंतर्गत क्रमशः चैत्यिक रूपान्तरण, आध्यात्मिक रूपान्तरण एवं अतिमानसिक रूपान्तरण को समाहित करते हैं। चैत्यिक रूपान्तरण चेतना का चैत्योन्मीलन है। प्रारम्भ में मनुष्य की चेतना मात्र शरीर, प्राण एवं मन की प्रवृत्तियों में ही व्यस्त रहती है, किन्तु जब मनुष्य की चेतना (अभीप्सा, त्याग एवं समर्पण द्वारा) चैत्योन्मुखी हो जाती है तब वह क्रमशः अपनी समस्त प्रवृत्तियों को चैत्य सत्ता के चारों ओर व्यवस्थित करने लगता है और उसके निर्देशन में कर्म करने के लिए प्रवृत्त होता है। आध्यात्मिक रूपान्तरण उस समय प्रारम्भ होता है जब अंतर्आत्मा गंभीरतर जीवन-यापन करने का आग्रह प्रदर्शित करती है। इस रूपान्तरण में मनुष्य आत्मा के ज्ञान के साथ-साथ उच्चतर वैश्व चेतना का ज्ञान प्राप्त कर उसके अनुरूप अपने जीवन को संचालित करने लगता है तथा चेतना के उच्चतर क्षेत्रों से शान्ति, ज्ञान, ज्योति, शक्ति और आनन्द का उसके अंदर स्थायी अवतरण होने लगता है। चैत्यिक और आध्यात्मिक रूपान्तरणों को पूर्ण बनाने के लिए अतिमानसिक रूपान्तरण की आवश्यकता होती है। अतिमानसिक रूपान्तरण में सब कुछ विज्ञानमय चेतना में फलीभूत होकर अतिमानस भावापन्न बन जाता है। अतिमानसिक चेतना पूर्णता, ज्ञान, सामंजस्य, एकता और आनन्द का स्रोत है। श्री अरविन्द ने दिव्य सत्ता में प्रवाहित जिस दिव्य चेतना का उल्लेख किया है उसकी प्राप्ति एवं अभिव्यक्ति अतिमानसिक रूपान्तरण द्वारा ही संभव है। अतः दिव्य जीवन की उपलब्धि एवं अभिव्यक्ति ही मानव सत्ता की परम संसिद्धि है जो कि श्री अरविन्द के समग्र मानववाद के दिव्य भावापन्न स्वरूप का लक्ष्य है।

भारतीय मूल्य व्यवस्था, जिसे पुरुषार्थ से अभिहित किया जाता है, के अंतर्गत धर्म, अर्थ काम एवं मोक्ष को हम मानव जीवन के लक्ष्य के रूप में कल्पित अथवा प्रतिष्ठित करते हैं। श्री अरविन्द के मानववादी चिंतन में दिव्य जीवन अथवा दिव्य रूपान्तरण को मनुष्य के जीवन का परम लक्ष्य माना गया है। भारतीय परम्परा के विपरीत प्रायः पाश्चात्य मानववादी चिंतन मनुष्य के व्यक्तित्व को ही उसकी आत्मा का व्यक्त स्वरूप मानता है। मानव सृष्टि के विकास में मानव की मध्यवर्ती स्थिति और मानव द्वारा निर्मित विभिन्न सामाजिक संस्थाओं के वर्तमान उपयोगिता का तथ्य और भविष्य में उनके अतिक्रमण के प्रयास का अभाव श्री अरविन्देतर मानवतावादी चिंतनों में मिलता है।⁹ अतः श्री अरविन्द ने अपने सर्वांग एकात्मवादी दृष्टि द्वारा सृष्टि के विकास क्रम में मानव की स्थिति और मानवीय व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए उसके द्वारा निर्मित विभिन्न सामाजिक संस्थाओं की उपादेयता और इन सभी बिन्दुओं को एक वृहत्तर विकासशील लक्ष्य की ओर अग्रगामी होने की वैज्ञानिक दृष्टि प्रदान की है।

IV

श्री अरविन्द मनुष्य की समग्र अवधारणा को प्रस्तावित करते हैं जो कि मनुष्य के अस्तित्व में अपार संभावनाओं को समाहित करती है। अपार संभावना से हमारा आशय यह है कि मनुष्य में आत्म-अतिक्रमण की अपरिहार्य प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। यह उसके मानवीय स्वभाव में है कि सचेतन विकास द्वारा स्व का अतिक्रमण करे, वह जो है के परे आरोहण की इच्छा।¹⁰ श्री अरविन्द के इस विचार की तुलना हाइडेगगर के अस्तित्ववादी चिंतन से संभव है। मार्टिन हाइडेगगर ने मानवीय अस्तित्व एवं अन्य निम्न सत्ता के प्रकार (प्रजाति) में स्पष्ट विभेद किया है: अन्य सत्ता के प्रकार में वास्तविकता का संभावना पर आधिपत्य होता है, जबकि मानवीय अस्तित्व संभावनाओं में अंतर्निहित होता है। वे 'क्षैतिज' संभावना को महत्व प्रदान करते हैं जिसके अंतर्गत अस्तित्व के यथार्थ आयाम में दोलायमान होने की संभावना है। श्री अरविन्द फिनोमिनोलॉजिकीय दृष्टिकोण को जननिक विकासवादी दृष्टि से संपूरित करते हैं। मनुष्य में मात्र अधिक आंतरिक, अधिक आत्म-चैतन्य जीवन जीने की संभावना ही नहीं होती जिसका वैषम्य बाह्य ऐन्द्रिक जीवन से सुस्पष्ट है, अपितु उसमें स्वयं से परे जाने के भी संभावना ब्रह्माण्डीय विकासवादी प्रक्रिया में अग्रणी के रूप में संभव है। मनुष्य के समग्र दर्शन के दो महत्वपूर्ण पक्ष हैं : आकृतिमूलक एवं जननिक-विकासवादी। आकृतिमूलक पक्ष में मानवीय अस्तित्व के क्षैतिज प्रतिनिधिक अंश का उद्घाटन होता है, तो वहीं जननिक-विकासवादी पक्ष मनुष्य को ब्रह्माण्डीय विकासवादी प्रक्रिया में मूलित करता है जो कि उसकी प्रस्थिति एवं नियति का निर्धारण है। यह दोनों पक्ष वस्तुतः असंबद्ध नहीं हैं क्योंकि मानवीय अस्तित्व की आकृतिमूलक विशिष्टता का आधार मनुष्य का ब्रह्माण्डीय विकासवादी प्रक्रिया में नियत स्थान है। आत्म-बोध का विकास समग्रता अथवा एकता की प्रक्रिया के विकास का द्योतक है अर्थात् इसमें निम्न एवं उच्च का समन्वय होता है। यह श्री अरविन्द की विलक्षण दृष्टि है कि आत्म-बोध विभेदकारी मानसिक चेतना के परे है एवं दिव्य आत्म-चेतना के निकटस्थ है- जिस दिशा में मनुष्य का गमन हो रहा है। मनुष्य का आध्यात्मिक उत्तरदायित्व है कि वह ब्रह्माण्डीय प्रक्रिया के साथ सहयोग एवं सामंजस्य स्थापित करे। अतः उच्चतर के प्रति आग्रह अत्यन्त ही स्वाभाविक है एवं जिसका स्वरूप सर्वसमावेशी एवं समग्र है। मनुष्य के विकास के द्विविध आयाम हैं : बाह्य स्वरूप का विकास एवं आंतरिक सत्ता का विकास। यह हमारे मानस का अधिकतम सीमा तक विकास है जिसके फलस्वरूप वह प्रातिभ बुद्धि को उद्घाटित करने के लिए तत्पर होता है।¹¹

मनुष्य के स्वरूप एवं नियति का विश्लेषण श्री अरविन्द के सत् विचार पर केन्द्रित है और वे सत्ता के विविध स्तरों को रेखांकित करते हैं। सत्ता के सप्त स्तर के अंतर्गत शुद्ध सत्, चित्त-शक्ति, आनन्द, अतिमानस, मानस, प्राण एवं जड़ तत्व

समाहित हैं। वे अत्यन्त ही सुंदर ढंग से 'सत्' तथा उसके जगत् में व्यक्त-रूप के सम्बन्धों को विवेचित करते हैं जिसके अनुसार सच्चिदानन्द ही अपने शुद्ध सत् रूप में चित्-शक्ति एवं आनन्द में अभिव्यक्त होता है तो वहीं अतिमानस की क्रियात्मकता के माध्यम से ब्रह्माण्ड में अवतरित होता है। आरोहण की प्रक्रिया से सतत जड़ तत्व, प्राण, मन आदि उच्चतर रूप को प्राप्त करने में प्रवृत्त होता है। श्री अरविन्द ने सत्ता-सम्बन्धी चार सिद्धान्तों का समीक्षात्मक मूल्यांकन किया है।

1. परात्म-मूलक सिद्धान्त : यह सिद्धान्त निरपेक्ष सत् की स्थापना करते हुए जगत् एवं जगत् में अवस्थित मनुष्य की सत्ता का निषेध करता है। वे अद्वैत वेदान्त को इस कोटि में रखते हैं जहाँ जगत् मिथ्यात्व की सिद्धि ब्रह्म की एक मात्र सत्ता के लिए अपरिहार्य है। श्री अरविन्द की दृष्टि में यह सिद्धान्त एकांगी है क्योंकि इसके अंतर्गत जगत् एक भ्रम अथवा मिथ्या है और अस्तित्ववान मानव के प्रति अस्वीकृति का भाव है।

2. ब्रह्माण्ड-मूलक अथवा इहलौकिक सिद्धान्त : यह परात्ममूलक सिद्धान्त का विरोधी सिद्धान्त है क्योंकि ब्रह्माण्ड (जगत्) को इसमें यथार्थ (वास्तविक) रूप में कल्पित किया गया है। यहाँ ईश्वर जैसी किसी अतीन्द्रिय सत्ता का स्पष्ट निषेध एवं जगत् अथवा प्रकृति का स्वरूप गतिशील, परिवर्तनमूलक एवं वास्तविक है। यह सिद्धान्त भी एकांगी है क्योंकि इसमें 'परे' की कोई संभावना नहीं है जिसके फलस्वरूप यह न तो बौद्धिक जिज्ञासाओं को शान्त करने में सक्षम है और न ही भावनात्मक संतुष्टि प्रदान करता है।

3. पारलौकिक सिद्धान्त : यह सिद्धान्त परात्ममूलक एवं ब्रह्माण्डमूलक दोनों ही सिद्धान्तों से भिन्न है क्योंकि परात्ममूलक सिद्धान्त में मात्र परात्म की सत्ता को ही स्वीकार किया गया जबकि ब्रह्माण्डमूलक सिद्धान्त के अंतर्गत ब्रह्माण्ड (जगत्) की यथार्थता को स्वीकार करते हुए किसी निरपेक्ष (परात्म) की सत्ता का स्पष्ट निषेध है। पारलौकिक सिद्धान्त 'जगत्' एवं 'जगत् से परे' दोनों की वास्तविकता (यथार्थता) को स्वीकार करता है। अतः इस सिद्धान्त की यह विशेषता है कि जगत्, मनुष्य एवं अनुभवातीत जगत् तीनों की सत्ता है। श्री अरविन्द के अनुसार इस सिद्धान्त का यह दोष है कि लौकिक जगत् में उच्चतर चेतनाओं के जागृत होने की कोई संभावना नहीं है जबकि उनकी यह मान्यता है कि इस जगत् में ही 'दिव्य जीवन' संभव है।

4. पूर्ण अथवा समग्रतावादी सिद्धान्त : श्री अरविन्द द्वारा प्रतिपादित समग्रवादी सिद्धान्त 'परात्म' एवं 'ब्रह्माण्ड' दोनों की वास्तविकता को समुचित महत्व प्रदान करता है। जड़ तत्वों को 'ईश्वरीय' समझना अनिवार्य है, और यह अनुभूति भी आवश्यक है कि जड़, प्राण तथा मनस के आमूल परिवर्तन (रूपान्तरण) से उच्चतर स्तर की प्राप्ति संभव है। उनकी यह मान्यता है कि वर्तमान जीवन एवं लौकिक जगत्

में ईश्वरीय शक्ति व्यक्त एवं मुखरित होती है तथा सर्वोच्च आध्यात्मिक शक्ति, प्रकाश, एकत्व तथा आनन्द की ओर अग्रसर होने की संभावना है।

श्री अरविन्द की यह दृढ़ आस्था है कि मनुष्य का वह रूप जिससे हम सामान्यतः परिचित हैं अर्थात् जो हमें इन्द्रियाश्रित प्रत्यक्ष से प्राप्य है वह मानव का यथार्थ स्वरूप नहीं है। हम यह मानने के लिए बाध्य हैं कि मनुष्य के वास्तविक परिप्रेक्ष्य को समझने की क्षमता उत्पन्न नहीं हुई है। वस्तुतः मनुष्य के ज्ञान की इस अयथेष्टता एवं अपूर्णता का मूल कारण यह है कि मानव के दो पक्ष हैं- बाह्य एवं आंतरिक। बाह्य पक्ष हमारा अस्तित्वात्मक पक्ष है जिसका हमें जाग्रत अवस्था में प्रत्यक्ष होता है। इसके अतिरिक्त एक उपचेतन की भी अवस्था है जो हमारे भूत के साहचर्यों, संस्कारों, प्रवृत्तियों, कर्मों से निर्मित है। मनुष्य का आंतरिक पक्ष चैत्य पुरुष है जिसके अंतर्गत भौतिकता, प्राणतत्व एवं मानसिकता की आंतरिकता का समावेश होता है। चैत्य पुरुष में मानव की केन्द्रीय सत्ता प्रस्फुटित होती है जिसे वेदान्त की पदावली में 'आत्मन्' से अभिहित किया जाता है। श्री अरविन्द मनुष्य के त्रिविध स्तरों को स्वीकार करते हैं : प्रथम स्तर वह है जो बाह्य चेतना से प्रकट होता है, जबकि द्वितीय स्तर चैत्य पुरुष का है जो भौतिक, प्राणतत्व एवं मानसिक को आधार प्रदान करता है। तृतीय स्तर वह है जिससे मानव की केन्द्रीय सत्ता का बोध होता है जो इन सबका आधार है, जिसे 'जीवात्मा' कहा गया है, और जो ईश्वरीय है।¹² वे जीवात्मा को 'ईश्वरीय अंश' अथवा 'परमात्मा का मानवीय रूप' आदि से संबोधित करते हैं। चैत्य पुरुष एवं जीवात्मा में विभेद इस प्रकार स्थापित किया जा सकता है कि चैत्य पुरुष एक प्रकार से जीवात्मा का प्रतिनिधि है जो वैयक्तिक जीवन में व्यक्त होता है जबकि जीवात्मा समस्त वैयक्तिक अभिव्यक्तियों के ऊपर है अथवा दूसरे शब्दों में 'चैत्य पुरुष' विकास प्रक्रिया के अंतर्गत है किन्तु 'जीवात्मा' विकास क्रम के परे है। श्री अरविन्द ने चैत्य पुरुष एवं जीवात्मा के अंतर को एक अन्य ढंग से भी स्पष्ट किया है कि चैत्य पुरुष एवं परम सत् अथवा निरपेक्ष में भेदाश्रित अभेद का सम्बन्ध है किन्तु जीवात्मा एवं परम सत् में पूर्ण अभेद है। अतः निष्कर्षरूपेण हम यह कह सकते हैं कि श्री अरविन्द के दर्शन में मानव स्वरूप के तीन पक्ष हैं : मनुष्य का भौतिक स्वरूप जो कि बाह्य पक्ष है, चैत्य पुरुष मानव का आंतरिक पक्ष एवं जीवात्मा उसका सत् पक्ष है। चैत्य पुरुष मानव का वह आध्यात्मिक पक्ष है जो विकास क्रम में स्पष्ट होता है और परात्मकता का आधार है। जीवात्मा मनुष्य का यथार्थ स्वरूप है जिसकी पूर्ण अभिव्यक्ति ही मानव अस्तित्व का लक्ष्य है।

मनुष्य के स्वरूप एवं नियति पर गांधी एवं श्री अरविन्द के संदर्भ में तुलनात्मक दृष्टि से विश्लेषण करने पर कुछ सामान्य निष्पत्तियों का रेखांकन संभव है- गांधी का मनुष्य के प्रति दृष्टिकोण पारंपरिक एवं धार्मिक है जबकि श्री अरविन्द यथार्थवादी एवं विकासवादी दृष्टि के पक्षधर हैं। गांधी मनुष्य के बाह्य पक्ष को भौतिक एवं आंतरिक

पक्ष को आध्यात्मिकता में मूलित करते हैं। वे मनुष्य का मूल स्वरूप ईश्वरत्व का अंश मानते हैं। श्री अरविन्द के समग्र मानववाद में हम मनुष्य के स्वरूप का अधिक समग्र विश्लेषण पाते हैं जो शरीर, प्राण, मन, चैत्य पुरुष एवं जीवात्मा आदि को समाहित करता है। गांधी ने मनुष्य में आध्यात्मिकता की अभिव्यक्ति विवेक-शक्ति, अंतरात्मा की आवाज एवं संकल्प स्वातंत्र्य के माध्यम से स्वीकार किया है और उनकी यह मान्यता है कि मनुष्य के जीवन का लक्ष्य सत्य का साक्षात्कार अथवा ईश्वरानुभूति है। श्री अरविन्द मनुष्य के जीवन का लक्ष्य दिव्य जीवन की अनुभूति मानते हैं। वे विकास की द्विविध प्रक्रिया को प्रस्तावित करते हैं : अवतरण एवं आरोहण। अवतरण में परम तत्व (सच्चिदानन्द) का जगत् के रूप में अवतरण तो वहीं जगत् के तत्वों का उच्चतर रूपों में आरोहण अथवा उत्थान होता है। सत्, चित्तशक्ति, आनन्द एवं अतिमानस अवतरण की अवस्थाएँ हैं तो वहीं जड़, प्राण मन एवं चैत्य पुरुष के विभिन्न स्तर आरोहण के क्रम को व्यक्त करते हैं। गांधी के दर्शन में किन्तु इस प्रकार के विकास प्रारूप का सर्वथा अभाव परिलक्षित होता है यद्यपि वे दोनों दार्शनिक मनुष्य के आध्यात्मिक स्वरूप को ही मानव का सार तत्व मानते हैं।

संदर्भ सूची

1. गांधी, एम.के., *माई रिलीजन*, संपादक बी. कुमारअप्पा, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 1958, पृ. 41.
2. वही, पृ. 42.
3. देसाई, एम., *दी गीता ऐकोरडिंग टु गांधी*, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 1946, पृ. 135.
4. बोस, एन.के., (संपादक) *सलेक्शन्स फ्रॉम गांधी*, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 1948, पृ. 224.
5. गांधी, एम.के., *एथिकल रिलीजन*, मद्रास : गणेशन, पृ. 11.
6. गांधी, एम.के., *टूथ इज गॉड*, संपादक, पी.के. प्रभु, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 1955, पृ. 135.
7. श्री अरविन्द, *दी लाइफ डिवाइन*, पाण्डिचेरी 1955, पृ. 36.
8. वही, पृ. 3.
9. श्री अरविन्द, *दी आइडियल ऑफ ह्यूमन युनिटी*, पाण्डिचेरी, 1950, पृ. 74-75.
10. श्री अरविन्द, *दी लाइफ डिवाइन*, पृ. 638.
11. वही, पृ. 771.
12. श्री अरविन्द, *लाइट्स ऑन योग* आर्य पब्लिशिंग हाउस, कलकत्ता, 1948, पृ. 25.

प्रकृति एवं कविवर रवीन्द्रनाथ के काव्य

प्रो. दिनेश कुमार चौबे*

विश्वभारती के आदर्श वाक्य 'यत्र विश्वम्भवेत्येकनीडम्' 'जहाँ सारा संसार एक घोंसला बन जाता है' का उल्लेख करना प्रासंगिक है। शान्तिनिकेतन जाकर कविवर के प्रति नतमस्तक होना सभी के लिए स्वाभाविक है। प्रकृति की गोद में बसे इस अपूर्व शिक्षा संस्थान में पूर्ण व्यक्तित्व-विकास के लिए हर प्रकार की सुव्यवस्था है। चित्रकला, पेंटिंग, संगीत, मूर्तिकला के साथ प्राथमिक स्तर से स्नातकोत्तर की पठन-पाठन की व्यवस्था, स्वावलम्बन के लिए विविध पाठ्यक्रम एवं जीविकोपार्जन के अवसर की व्यवस्था देखते ही बनती है। गुरुदेव की प्रकृति-प्रेम का साक्षात् प्रमाण उनके शिलांग प्रवास के दौरान 'शेपेर कविता' जैसी रचना है। मेघालय प्रवास के दौरान उनकी अनुभूतियाँ साहित्य का वर्ण्य-विषय बनी हैं, इसके लिए पूरे मेघालयवासी गौरवान्वित हैं। वस्तुतः महाकवि प्रकृति के माध्यम से ही प्रेम-चित्रण करते हैं। उनके अनुसार प्रकृति के साथ चलकर व्यक्ति का उत्थान हो सकता है, उससे विरोध करके नहीं। गाँधी जी ने भी कहा था कि पृथ्वी मनुष्य की हर आवश्यकता की पूर्ति करती है, किन्तु हर लालच की नहीं। प्रकृति इन्सान को हरदम कुछ-न-कुछ प्रदान करती है, उससे लेती कुछ नहीं। इसके बावजूद लोभी मनुष्य सोने की अंडा देने वाली मुर्गी को मारकर सब कुछ एक साथ पा लेना चाहता है, जिसका दुष्परिणाम उसे भुगतना ही है। महाकवि को इस बात का पूर्ण आभास था।

रवीन्द्रनाथ का जिस तरह बाङ्ला भाषा के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, उसी तरह प्रकृति के साथ भी। ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों के प्राण एक हों। महाकवि को बाङ्ला भाषा का साहित्य रूपी कमल का सूर्य कहा जाता है। कारण, इनके उदय के साथ ही बंग साहित्य का पूर्ण विकास हुआ। इनके पूर्व बाङ्ला साहित्य में वह छटा एवं सुगन्ध नहीं थी, जिसके कारण पूरे विश्व के लोग मधुलुब्ध भीरे की भाँति इसकी

* हिंदी विभाग, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग-793022, मो. 9436312134

ओर आकर्षित हुए। बाङ्ला भाषा के जागरण काल की प्रथम अवस्था में रवीन्द्रनाथ पूरे क्षेत्र के लोगों में प्रभाती स्वरों के माध्यम से उनमें जागृति लाने का प्रयास करते हैं। यह बात सत्य है कि प्रकृतिमय संगीत एवं कविता लेकर रवीन्द्रनाथ का उदय हुआ और उनके द्वारा पूरे क्षेत्र में प्रकृति का अभाव पूर्ण हुआ। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक आलोच्य कवि काव्य-जगत के श्रेष्ठ कवि हैं। पूरे विश्व ने प्रतिभा के क्षेत्र में गुरु रवीन्द्रनाथ का लोहा माना।

रवीन्द्रनाथ अपना आदर्श महाकवि कालिदास को मानते थे, किन्तु प्रकृति चित्रण में उनकी अपनी मौलिकता के दर्शन होते हैं। प्रकृति-निरीक्षण के कारण नौकर के शासन में कमरे में बैठकर खिड़कियों से घंटों पनघट पर लोगों की भीड़, बगीचे में चिड़ियों का कलरव सुनते-सुनते वे आस-पास की प्रकृति के सहचर बन गए थे। किशोरावस्था में ब्रिटेन की यात्रा के दौरे में प्राकृतिक दृश्यों की विचित्रता, मनुष्य के साथ प्रकृति के तादात्म्य का उन्हें अहसास हुआ। जमींदारी का कार्य करते समय उन्हें प्राकृतिक आनन्द खूब मिलता था। उनकी जमींदारी तीन जिलों में होने के कारण छप्परवाली नाव में सवार होकर प्रकृति के मनोरम दृश्यों का उन्होंने भरपूर आनन्द लिया। इसी के साथ उन्होंने प्रकृति के साथ साधारण मानव-प्रकृति का भी निरीक्षण किया, जिसका वर्णन उनके साहित्य में प्राप्त होता है।

पश्चिमी जगत महाकवि को नदियों का कवि, तृप्तमत्त च्यमजु मानता है। कारण, उनकी कविताओं में नदी का सौन्दर्य, धाराओं का प्रवाह, लहरों का मनोहारी रूप, नदी पर नाव से घूमते हुए हवा की सनसनाहट, पक्षियों की गुँज, रंग-बिरंगी वनस्पतियाँ एवं फूलों का दृश्य, नदी किनारे लहलहाते खेत, मछली मारने वाले मल्लाहों का हाड़तोड़ परिश्रम के बीच उन्मुक्त गान आदि के चित्रण मिलते हैं। ये चित्रण महाकवि के देखे-सुने-भोगे अनुभवों के हैं, जो सीधे पाठकों के हृदय को छू लेने में समर्थ हैं। जैसा हम जानते हैं कि बंगाल नदियों का प्रदेश है और कवि के जीवन का अधिकांश समय नदियों के किनारे प्रकृति की गोद में बीता है। बच्चों के लिए लिखी गई नदी पर केन्द्रित कविता की मार्मिकता दर्शनीय है—

*नदी जतो आगे आगे चले ततोई साथी जुटे दले दले।
तारा तारी मतो, घर होते सबाई बाहिर होये छे पथे।*

कवि-हृदय स्वभावतः बड़ा कोमल होता है, वे दूसरों के साथ सहानुभूति करते-करते इतने कोमल हो जाते हैं कि किसी भी चित्र की छाया उनके हृदय में ज्यों-की-त्यों पड़ जाती है। प्रकृति के साथ जीवन जीने वाले एवं प्रकृति का यथार्थ अध्ययन करने वाले रवीन्द्रनाथ में हर विषय एवं स्थिति का चित्रण मनोहारी ढंग से हुआ है। उनकी 'दुई उपमा' कविता में लोकाचार का चित्रण द्रष्टव्य है—

*जे नदी हाराये स्रोत चलिते न पारे,
सहस्र शैवाल दाम बाँधे आसि तारे,
जे जाति जीवन हारा अचल असार
पदे पदे बाँधे तारे जीर्ण लोकाचार।*

महाकवि ने प्रकृति का मानवीकरण करते हुए मार्मिक वर्णन किया है—

*नामे सन्ध्या तन्द्रालसा सोनार आँचल खसा हाते दीप शिखा,
दिनेर कल्लोल पर टानी दिया झिल्ली स्वर घन यवनिका।
ओपारेर कालो कुले काली घनाइया तुले निशार कालिमा,
गाढ़ से तिमिरतले चक्षु कोथाय डूबे चले नाही पाय सीमा।*

महाकवि रवीन्द्रनाथ जैसे कुशल साहित्य निर्माता हैं, वैसे ही उच्चकोटि के नाट्यकार, अभिनेता, संगीतज्ञ और देशभक्त हैं। निराला जी का कथन है कि महाकवि संगीत एवं छन्द दोनों के सिद्ध कवि हैं। संगीत पर जितना उनका जबरदस्त अधिकार है, उतना ही अधिकार छन्दों पर है। भाषा, भाव और छन्दों पर अधिकार बहुत विरले कवि के पास होता है। इस दृष्टि से शरतचन्द्र का मानना था कि भारत में इतना बड़ा कवि पैदा नहीं हुआ।

प्रकृति के माध्यम से प्रतिभा के विकास काल में महाकवि की हृदय की बातों की अभिव्यक्ति उल्लेखनीय है—

*आजि ए प्रभाते सहसा केरने पथहारा रविकर
आलय न पेये पड़ेछे आसिये आमार प्राणेर उ परे
बहु दिन परे एकटि किरण गुहाय दिये छे देखा
पड़ेछे आमार आन्धार सलिले एकटी कनक रेखा।*

(आज इस प्रभात काल में सूर्य की एक किरण एकाएक अपनी राह क्यों भूल गई, यह मेरी समझ में नहीं आता। वह कहीं ठहरने की जगह न पाकर मेरे प्राणों पर आकर गिर रही है। मेरे हृदय की गुफा में बहुत दिनों के बाद किरण दिखाई दे रही है, मेरे अन्धकार सलिल राशि पर सोने की एक रेखा खिंची हुई है।)

अपने हृदय के साथ दृश्य मिलाने के लिए महाकवि सम्पूर्ण विश्व को अपने कविता के माध्यम से न्यौता दे रहे हैं। वे मधुकर के साथ उपमा देकर मधुकर की भाँति ही उसे पुष्प प्रकृति का आनन्द लूटने के लिए आह्वान कर रहे हैं। कितनी सूक्ष्म दृष्टि है—

*वायुर हिल्लोले झरिबे पल्लव भर-भर मुदु तान
चारि दिक् होते किसेर उल्लासे पाखीते गाइबे गान।*

नदीते उठिबे शत शत डेऊ; गाबे तारा कल-कल,
आकाशे आकाशे उथलिबे शुधु हरपेर कोलाहल।

कवि को जब अपनी महत्ता का अनुभव होता है, तब वे अपनी व्याप्ति का वर्णन करते हैं—

रवि-राशि भाँति गाथिबो हार,
आकाश आँकिया परिबो बास।
साँझेर आकाले करे गालागालि
अलस कनक जलद राश।
अभिभूत होये कनक-किरने,
राखिते पारे ना देहेर भार।

‘राते ओ प्रभाते’ कविता में शृंगार वर्णन उल्लेखनीय है—

राते प्रेयसीर रूप धरि तुमी एसेछो प्राणेश्वरि,
प्राते कखन देबीर बेशे तुमी सुमुख उदिले हेसे,
आमि सम्भ्रम भरे रयेछि दाँड़ाये दूरे अवनत शिरे
आजि निर्मल बाय शान्त ऊषाय निर्जन नदी तीरे।

महाकवि के हृदय की आकाश की भाँति विशालता, पृथ्वी के समान धीरता, समुद्र की भाँति गम्भीरता, सभी प्राणियों के प्रति उदारता हर कविता में स्पष्ट होती है। कवि की यह उक्ति दर्शनीय है, जब वे अपने इष्ट देव से कहते हैं कि मैं सब प्रकार का गर्व छोड़ दूँगा, परन्तु तुम्हारा गर्व मुझसे छोड़ा न जाएगा। वे ईश्वर की कृपादृष्टि स्वयं नहीं लेना चाहते, दूसरों को भी उनकी कृपा का पात्र बनाना चाहते हैं। वे कहते हैं—

सकल गर्व दूर करि दिबो
तोमार गर्व छाड़िबो ना।
सबारे डाकिया कहिब, जे दिन
पाव तव पद रेणु-कण।
तव आह्वान आसिबे जखन
से कथा केमने करिब गोपन?
सकल बाक्ये सकल कर्मे
प्रकाशिबे तव आराधना।

महाकवि की उदारता इस बात से स्पष्ट होती है कि आचार्य क्षितिमोहन सेन के कबीर के सौ पदों के संग्रह को पाश्चात्य विद्वानों के बोध के लिए उसका उन्होंने

स्वयं अंग्रेजी में भावानुवाद किया, जिससे यूरोपीय भाषाओं के समीक्षकों की दृष्टि पूरी तरह भारतीय साहित्य और साधना के बारे में परिवर्तित हुई। हिन्दी साहित्य के अधिकांश कवि, साहित्यकार महाकवि की रचनाओं एवं उनके व्यक्तित्व से प्रेरित-प्रभावित हुए हैं। हिन्दी साहित्य के अनेक साहित्यकारों पर उनका प्रभाव स्वतः स्पष्ट है। इस दृष्टि से सूर्यकान्त त्रिपाठी ‘निराला’, सुमित्रानन्दन पन्त, हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि उल्लेखनीय हैं। गुरु रवीन्द्रनाथ को प्रकृति का कवि कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है, क्योंकि उनका समस्त जीवन एवं भावाभिव्यक्ति प्रकृति के बिना अपूर्ण है।

साम्ययोग के आयाम : विनोबा दृष्टि का पुनर्पाठ

डॉ. रामचन्द्र प्रधान*

मुझे आचार्य जी की पुस्तक पढ़ते हुए डॉ. राम मनोहर लोहिया से सम्बन्धित एक पुरानी बात याद आ गई। बात पिछली सदी के छठे दशक की है। इस कालखंड में भारत का विशिष्ट वर्ग विशेषकर अंग्रेजी पढ़ा-लिखा वर्ग उनको हिकारत की नजर से देख रहा था, क्योंकि वे पिछड़े और वंचित वर्गों के लिए विशेषाधिकार और विशेष अवसर की माँग कर रहे थे। उसके साथ-साथ उन्होंने शिक्षा, जाति और व्यक्तिगत संपत्ति से जुड़े ऐसे क्रान्तिकारी प्रश्न उठाए थे कि भारत के अभिजात वर्ग की जड़ें हिलने लगी थीं। इस छोटी-सी समीक्षा में उन प्रश्नों पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है। लेकिन उस दौर में लोहिया ने एक प्रश्न उठाया था, जो आज भी विचारणीय है। वह प्रश्न था, जब आपके चारों तरफ अन्धकार फैला हो इतना गहरा कि अपना हाथ भी नहीं सूझता हो। आँधी इतनी जोरदार चल रही हो कि आपकी अपनी आवाज भी मुश्किल से सुनाई दे रही हो। ऐसे वातावरण में अपनी आवाज देने का दायित्व और औचित्य बनता है क्या? क्योंकि उस धुन्ध भरी आँधी में उसका खो जाना अपरिहार्य है। अपने प्रश्न का स्वयं उत्तर देते हुए उन्होंने कहा था कि ऐसे विषम वातावरण में भी हमें अपनी आवाज देते रहना होगा, क्योंकि कभी-कभी इतिहास की घाटी से टकराकर जब ऐसी आवाज लौटकर आती है, तो वह अपूर्व रूप से प्रभावकारी और विचारोत्पादक होती है। कभी-न-कभी उससे सारा समाज उद्वेलित हो उठता

* गाँधी विचार परिषद्, वर्धा महाराष्ट्र; पता : आर-22, सेक्टर-12, गौतम बुद्ध नगर, नोएडा-201301 (उ. प्र.) मो. 09312842482

** लेखक : नन्द किशोर आचार्य, प्रकाशक : प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर 2017, मूल्य : एक सौ अस्सी रुपये मात्र

है। आगे चलकर बाइबिल में जब ईसा मसीह के पुनरागमन की बात पढ़ी तो डॉ. लोहिया की बात ज्यादा स्पष्ट रूप से समझ आने लगी।

आज गाँधी और उनके तीन सहचिन्तकों बाबा विनोबा, लोहिया और जयप्रकाश नारायण का वैचारिक पुनरागमन हो रहा है। भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के महानायक महात्मा गाँधी को वैचारिक स्तर पर उनके अपने शिष्यों द्वारा नकारने की प्रक्रिया 1945 के बाद शुरू हो गई थी। 1945 में हुए गाँधी-जवाहर लाल पत्राचार में वह लिपिबद्ध है। यहाँ तक भारतीय संविधान में भी गाँधी विचार को कोई स्थान नहीं दिया गया। लेकिन आज गाँधी, विनोबा, लोहिया और जयप्रकाश वैचारिक चर्चा के केन्द्र बिन्दु बनते जा रहे हैं।

नन्द किशोर आचार्य की पुस्तक 'साम्ययोग : विनोबा दृष्टि का पुनर्पाठ' उसी वैचारिक पुनरागमन की एक कड़ी है। कवि, लेखक, शिक्षक, विचारक एवं अनेक विधाओं और विद्याओं में पारंगत नन्द किशोर आचार्य की यह पुस्तक विनोबा चिन्तन पर लिखी गई विपुल सामग्री के बीच पाठक का ध्यान अलग रूप से आकर्षित करती है। यह नन्द किशोर आचार्य के बौद्धिक पुरुषार्थ का द्योतक है कि चार अध्याय, एक छोटा-सा परिशिष्ट के साथ वाली मात्र एक सौ चार पन्ने की पुस्तक में उन्होंने विनोबा चिन्तन के सर्वस्व सार को सुधी पाठकों के सामने परोस दिया है। इतना ही नहीं, विनोबा के साम्य योग के विभिन्न पक्षों को विश्व प्रसिद्ध विद्वानों की विचार सारणि के सन्दर्भ में उजागर किया है।

पहले अध्याय में लेखक ने विनोबा के साम्ययोग के 'तत्त्वचिन्तन' पर विचार कर इसे उनके बहुआयामी चिन्तन का मूलधार बताया है। विनोबा 'अध्यात्म' और विज्ञान को अन्तरविरोधी नहीं मानते, बल्कि एक-दूसरे को सहकर्म और सहायत्री रूप में देखते हैं। कारण कि इन दोनों का परम उद्देश्य एक ही है—मानव-चेतना का क्रमिक विकास। यही कारण है विनोबा राजनीति और धर्म के दिन लद जाने की बात करते हैं और मानव-जाति का अगला पड़ाव अध्यात्म और विज्ञान होगा, ऐसी मान्यता विनोबा की है। विनोबा अपने आध्यात्मिक तत्त्वदर्शन को 'पंचनिष्ठा' के रूप में प्रस्तुत करते हैं। वे हैं—निरपेक्ष नैतिक मूल्यों में आस्था, एकत्व-समत्व बोध, जीवन के निरन्तरता, विपाकम् और संविधानम्। लेखक ने विनोबा की 'पंचनिष्ठा' का बहुत ही सारगर्भित व्याख्या प्रस्तुत की है। विनोबा 'अपर साम्य' यानी सामाजिक, आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था को परम साम्य यानी अन्तिम गन्तव्य का साधन स्वरूप मानते हैं। इस प्रकार विनोबा का अन्तिम उद्देश्य तो साम्ययोग है और साधन होगा सत्याग्रह। लेकिन उसके लिए जरूरी होगा विभिन्न तत्त्वज्ञान का समन्वय और सर्वोदय समाज। इस प्रकार लेखक का मानना है कि महात्मा गाँधी की तरह ही विनोबा विभिन्न क्षेत्रों में व्याप्त विरोधाभास के स्थान पर समन्वय सूत्र की स्थापना करते हैं।

पुस्तक के दूसरे और तीसरे अध्याय में, विनोबा के आर्थिक और राजनीतिक चिन्तन पर विचार किया गया है। इन अध्यायों में विनोबा चिन्तन पर विचार करते हुए मुख्य स्थापना यह रखी गई है कि विनोबा ने अपने साम्ययोग के अभिधेय तक पहुँचने के लिए मूल तत्त्व मीमांसा के अनुकूल आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था का ढाँचा-खाँचा प्रस्तुत किया है। यहाँ विनोबा चिन्तन को मार्क्सवादी विचार से अलग दर्शाते हुए आचार्य ने मार्क्सवाद की मुख्य कमजोरी पर अपनी अँगुली रख दी है। मार्क्सवाद अपने अन्तिम उद्देश्य—वर्गविहीन, राज्यविहीन समाज के अनुकूल उत्पादन के साधन और प्रौद्योगिकी का इजाद करने में पूर्णतया असफल रहा। और वही उसके पतन का कारण बना। इसके विपरीत विनोबा साम्ययोग यानी ‘परम साम्य’ के अनुकूल ‘अपर साम्य’ यानी उत्पादन के साधन प्रौद्योगिकी बताने में सफल दिखते हैं। परम साम्य और अपर साम्य की साम्यता विनोबा चिन्तन की मुख्य पहचान और विशेषता है।

पुस्तक का चौथा अध्याय साम्ययोग और साहित्य के आपसी सम्बन्ध पर केन्द्रित है। विनोबा आत्मज्ञान और विज्ञान के साथ-साथ साहित्य की भी साम्ययोग की लम्बी यात्रा में प्रमुख भूमिका देखते हैं। उनका यह भी मानना है कि मानव-चेतना के विकास के क्रम में भविष्य में अच्छे साहित्य की रचना होना अपरिहार्य है।

पुस्तक में एक परिशिष्ट भी है जिसमें अध्यात्म की वैज्ञानिकता पर विचार किया गया है। विनोबा का मानना है कि भेद से अभेद की तरफ जाना अध्यात्म और विज्ञान दोनों का ही एक ही मार्ग है।

वस्तुतः आज पश्चिम की औद्योगिक सभ्यता पर आधारित विश्व-व्यवस्था चरमरा रही है और दुनिया-भर में विद्वत्-जन इसके विकल्प की तलाश में लगे हैं। तलाश के इसी क्रम में लोगों का ध्यान गाँधी-विनोबा चिन्तन पर आ टिका है। अपनी वर्तमान पुस्तक के माध्यम से नन्द किशोर आचार्य ने इस सतत् संचालित वैचारिक संवाद-परिसंवाद में एक महत् योगदान किया है। एक तो ‘साम्ययोग के आयाम’ से स्पष्ट हो जाता है कि विनोबा चिन्तन उस विकल्प की तलाश का एक अभिन्न अंग है। दो, आचार्य का विनोबा चिन्तन का सारा-का-सारा विवेचन न भक्त रूप में है अभक्त रूप में। वह तो तथ्य, तर्क, बुद्धि और विवेक पर आधारित है। तीन, इस पुस्तक की एक और विशेषता यह है कि अपने विवेचन के क्रम में आचार्य ने विश्व-भर के अद्यतन विचारों के सन्दर्भ को भी प्रस्तुत किया है। इस प्रकार विनोबा चिन्तन को एक बड़े फलक पर जाँचा-परखा जा सकता है। चार, ऐसा भी नहीं है कि गाँधी-विनोबा चिन्तन पर आचार्य की यह पहली पुस्तक हो। इसके पहले वे ‘सभ्यता का विकल्प’ और ‘सत्याग्रह की संस्कृति’ लिखकर इस क्षेत्र में उन्होंने एक नया कीर्तिमान स्थापित किया था। अब ‘साम्ययोग के आयाम’ से उनका त्रिक (Trilogy) पूरा हो गया है। इतना ही नहीं, इसी क्षेत्र से जुड़े ‘अहिंसा विश्वकोश’ का संपादन एक विचारक

सम्पादक के रूप में उनकी एक अलग पहचान पहले ही बन चुकी थी। वर्तमान पुस्तक में उस विशिष्ट पहचान को आगे बढ़ाया है। इसमें विनोबा के ‘तत्त्वमीमांसा’ को मूलाधार बनाते हुए उनके अन्य विचार सरणि को उजागर किया गया है। इसलिए समस्त पुस्तक में एक विरले किस्म की साम्यता और गठनशीलता है। न कहीं बौद्धिक अटकाव है न बौद्धिक भटकाव। यह अपने-आप में एक पुरुषार्थ का काम है।

मेरा विश्वास है कि आचार्य की अन्य पुस्तकों की तरह ही उनकी इस पुस्तक की भी विद्वत् जन के साथ-साथ सामान्य पाठकगण में भी स्वागत और सराहना होगी।

आलोचना की नयी उड़ान

पल्लवी प्रकाश*

युवा आलोचक राजीव रंजन गिरि की पुस्तक ‘अथ—साहित्य : पाठ और प्रसंग’ अपने बहुआयामी अर्थ-वैविध्य के कारण आलोचनात्मक जगत में अपनी सशक्त उपस्थिति दर्ज कराती मालूम होती है। प्रस्तुत पुस्तक में राजीव ने पिछले दस वर्षों में लिखे गए अपने महत्वपूर्ण शोध-लेखों, समीक्षाओं, संवादों और टिप्पणियों को समाहित किया है, जिन्हें कुल नौ खंडों में विभक्त किया गया है।

प्रथम खंड है, “सार-सार को गही रखे” जो कि मूलतः भक्ति-काल पर आधारित है। इस खंड के अन्तर्गत चार लेख हैं। “भक्ति-आन्दोलन का अवसान और अर्थवत्ता” नामक पहले आलेख में राजीव ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में सर्वाधिक चर्चित और विवादित रहे भक्ति-काल के सन्दर्भ में स्थापित साहित्यकारों और इतिहासविदों के महत्वपूर्ण मतों और स्थापनाओं के पुनर्निरीक्षण का प्रयास किया है। इस लेख में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ. रामविलास शर्मा, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. नामवर सिंह, डॉ. मैनेजर पांडेय, वासुदेव शरण अग्रवाल, मुक्तिबोध, हरबंस मुखिया, सतीशचन्द्र, इरफान हबीब, एम.एन. श्रीनिवासन और डॉ. वीर भारत तलवार के मत प्रमुखता से शामिल हैं। दूसरे आलेख “अन्धश्रद्धा भाव से आधुनिकता की पड़ताल” में भगवान् सिंह की पुस्तक “आधुनिकता और तुलसीदास” की समीक्षा करते हुए राजीव ने यह दर्शाया है कि अन्धश्रद्धा किसी भी साहित्यिक कृति के सम्यक्

मूल्यांकन में किस प्रकार रुकावट बनकर उपस्थित होती है। इसी खंड के तीसरे आलेख, “राधा के वस्तुकरण की प्रक्रिया” में जयदेव से लेकर अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध की राधा तक के सफर को और इस सफर के दौरान राधा के व्यक्तित्व में आए परिवर्तन के निरूपण को एक गम्भीर आलोचनात्मक दृष्टि द्वारा दर्शाया गया है। इस आलेख में यह बताया गया है कि जहाँ आदिकाल तथा मध्यकाल के कवियों के यहाँ राधा प्रेमिका के रूप में उपस्थित होती है, वहीं आधुनिक काल के कवियों के यहाँ वह प्रायः सेविका के रूप में उपस्थित हुई है। चौथा आलेख है “अस्मितावादी अतिचार से मुखामुख” जिसमें पुरुषोत्तम अग्रवाल की पुस्तक “कबीर : साखी और सबद” की समीक्षा की गई है। इस समीक्षा में राजीव ने यह दिखाया है कि दूसरे आलोचकों की तरह पुरुषोत्तम अग्रवाल ने कबीर की विवादित पंक्तियों को प्रक्षिप्त कहकर उनसे बचने की कोशिश नहीं की है, बल्कि उनके अर्थ को एक नया विस्तार देने की कोशिश की है। साथ ही प्रो. अग्रवाल ने कबीर को मुख्यतः कवि रूप माना है, जबकि आधुनिक अस्मितावादी कबीर को धर्म-प्रवर्तक मानते हैं।

पुस्तक के दूसरे खंड का नाम है “स्वत्व निज भारत गहै” और यह भारतीय नवजागरण पर आधारित है, जिसके अन्तर्गत छह आलेख हैं। पहला आलेख है, “आरम्भिक आधुनिकता की तलाश”, जिसमें आधुनिकता के उदय के कारणों और देश-काल से उसके सम्बन्धों की निरपेक्षता को व्याख्यायित एवं विश्लेषित करने की कोशिश की गई है। लेखक यहाँ आधुनिकता को पश्चिमी देन मानने जैसी भ्रान्तियों के निराकरण का प्रयास करता है। इसी खंड के दूसरे आलेख, “सत्यार्थ प्रकाश और आर्यसमाज” में डॉ. वीर भारत तलवार की पुस्तक “हिन्दू नवजागरण की विचारधारा : सत्यार्थ प्रकाश-समालोचना का एक प्रयास” को आधार बनाया गया है। इसमें आर्य समाज की प्रमुख मान्यताओं का आलोचनात्मक विश्लेषण करते हुए राजीव ने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि स्वामी दयानन्द किस प्रकार हिन्दू धर्म की जड़ मान्यताओं को दूर कर युगीन आवश्यकताओं के अनुरूप एक नये वैदिक धर्म के गठन का प्रयास कर रहे थे। तीसरा आलेख है “भारतेन्दु युग और इतिहास निर्माण”, जिसमें नवजागरण के उदय के कारणों पर दृष्टि डालते हुए वैभव सिंह की पुस्तक “इतिहास और राष्ट्रवाद” पर चर्चा की गई है। इसमें नवजागरणयुगीन भारतीय समाज की जटिलताओं पर रोशनी डाली गई है। “सारसुधानिधि की रचनाएँ” नामक चौथे आलेख में सार-सुधानिधि के साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अवदान पर दृष्टि डाली गई है। पाँचवाँ आलेख है “साम्प्रदायिकता, सत्ता और साहित्य”, जिसमें साम्प्रदायिकता के प्रश्न पर विचार किया गया है, साथ ही भारतेन्दु से लेकर प्रतापनारायण मिश्र और फिर आपातकाल के दौरान तथाकथित प्रगतिशील समझे जाने वाले साहित्यकारों के सत्ता के साथ आकर्षण और विकर्षण के सम्बन्धों को व्याख्यायित करने का प्रयास

* पल्लवी प्रकाश, असिस्टेंट प्रोफेसर (हिन्दी), एस.एन.डी.टी. वीमेंस यूनिवर्सिटी, मुम्बई-400020, ई-मेल: pallaviprakash123@gmail.com

** परिचय : पुस्तक...अथ—साहित्य : पाठ और प्रसंग, लेखक : राजीव रंजन गिरि, प्रकाशन वर्ष-2014, प्रकाशक-अनुज्ञा बुक्स, 1/10206, वेस्ट गोरख पार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032, फोन : 011-22825424, 0950809192, मूल्य-740, पृ. 391, आवरण चित्र—अनुपम मिश्र

किया गया है। प्रस्तुत आलेख में यह भी दर्शाया गया है कि सत्ता-विरोधी स्वर उठाने के कारण किस प्रकार प्रेमचन्द, मुक्तिबोध और तसलीमा नसरीन की रचनाओं को शासन द्वारा प्रतिबन्धित किया गया। वस्तुतः साहित्यकारों और सत्ता का सम्बन्ध आदिकाल से ही चर्चा का विषय रहा है। एक ओर जहाँ कलाओं के संरक्षण के लिए राजाश्रय आवश्यक रहा है, वहीं राजकीय संरक्षण द्वारा कला की आत्मा पर एकाधिकार का डर भी बना रहता है। छठा आलेख है “भिखारी ठाकुर की कला”, जिसमें भिखारी ठाकुर के रचनात्मक अवदान और उनके संघर्षशील व्यक्तित्व का निरीक्षण किया गया है।

तीसरे खंड का नाम है “सघन तम की आँख”, जिसके अन्तर्गत नौ लेख हैं, जो प्रेमचन्द के रचनात्मक अवदान से पाठकों का परिचय कराने के साथ ही उनके आलोचनात्मक विवेक तथा समसामयिक विमर्शों के सन्दर्भ में उनकी प्रासंगिकता का सम्यक् विवेचन भी करते हैं। पहला आलेख है “प्रेमचन्द का प्रयोजन”, जिसमें प्रेमचन्द के लेख “साहित्य का उद्देश्य” का विवेचन किया गया है। दूसरा आलेख है “स्वाधीनता आन्दोलन की कहानियाँ”, जिसमें प्रेमचन्द की उन कहानियों पर चर्चा की गई है, जिनके केन्द्र में स्वाधीनता-आन्दोलन है। “दलित-जीवन पर दृष्टि”, “दलित, गाँधी और प्रेमचन्द” तथा “अस्मितावाद की कसौटी पर” क्रमशः तीसरे, चौथे और पाँचवें आलेख हैं, जिनमें दलित-प्रश्न पर प्रेमचन्द की दृष्टि तथा गाँधीजी से उनके वैचारिक मतभेद और आधुनिक युग के अस्मितावादी विमर्श के सन्दर्भ में प्रेमचन्द की दलित-दृष्टि की प्रासंगिकता के निरीक्षण का प्रयास किया गया है। “साम्प्रदायिकता से संघर्ष” तथा “लमही में प्रेमचन्द” छठे तथा सातवें आलेख हैं, जिनमें साम्प्रदायिकता के विरुद्ध प्रेमचन्द के रचनात्मक संघर्ष और उनके साहित्यिक अवदान पर चर्चा की गई है। “प्रेमचन्द का बाल-साहित्य” और “आलोचना और दृष्टि” क्रमशः आठवें तथा नौवें आलेख हैं, जिनमें बाल-साहित्य के चित्तेरे के रूप में प्रेमचन्द के साहित्यिक महत्त्व तथा उनके आलोचनात्मक विवेक पर भी चर्चा की गई है।

चौथा खंड है, “कथा-प्रान्तर”, जिसके अन्तर्गत पाँच लेख हैं, जिनके केन्द्र में उपन्यास और कहानियाँ हैं। इस खंड का पहला आलेख है, “अंग्रेजी ढंग का पहला हिन्दी उपन्यास”, जिसमें लाला श्रीनिवासदास द्वारा रचित उपन्यास “परीक्षागुरु” के साथ ही नामवर सिंह द्वारा दिए गए आख्यान, “अर्ली नोवेल्स ऑफ़ इंडिया” का भी विवेचन किया गया है। दूसरे आलेख “जैनेन्द्र का रचनात्मक संसार” में जैनेन्द्र के रचनात्मक तथा आलोचनात्मक विवेक की पड़ताल का प्रयास किया गया है। “हीरा भोजपुरी का हेराया बाजार में” तीसरा आलेख है, जिसमें संजीव के उपन्यास “सूत्रधार” की समीक्षा करते हुए राजीव ने यह बताया है कि उपन्यास में यद्यपि

संजीव, भिखारी ठाकुर को दलितों-पिछड़ों का शिखर-पुरुष बनाने में समर्थ हो गए हैं, परन्तु इससे भिखारी ठाकुर के बहुआयामी व्यक्तित्व की सीमा-रेखा संकुचित हुई है। “नए यथार्थ-बोध की कहानियाँ” तथा “इक्कीसवीं सदी का गल्प” में अधुनातन युग में आ रहे कहानियों के स्वरूप में परिवर्तन को केन्द्र बनाया गया है।

पाँचवें खंड, “जहाँ मूल्यवान हैं शब्द” में हिंदी कविता पर चर्चा की गयी है। इसमें आठ आलेख हैं, जिनमें अज्ञेय, शमशेर, त्रिलोचन, मुक्तिबोध, अनामिका और अरुण कमल के अतिरिक्त गीतकार गुलजार और कालजयी रूसी कवि पुश्किन की रचनाओं पर विचार किया गया है। पहला आलेख है, “अज्ञेय पर पूर्वग्रह” जिसमें पूर्वग्रह द्वारा अज्ञेय पर आधारित अंक का निरीक्षण किया गया है। इसी खंड के अन्तिम आलेख, “समय और सच का ऐन्द्रीय सत्यापन” में पुश्किन की उन कविताओं पर विचार किया गया है, जिनका अनुवाद कुमार कौस्तुभ ने “ओ मेरे वसन्त के वर्ष” नामक पुस्तक में किया है।

छठा खंड है, “देखना दिखन को”, जो कि हिन्दी आलोचना और आलोचकों पर केन्द्रित है और इसके अन्तर्गत छह खंड हैं। पहला आलेख है, “अयोध्या प्रसाद खत्री का महत्त्व”, जिसमें अयोध्या प्रसाद खत्री की उस निर्भीकता का विवेचन है, जिससे उन्होंने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की काव्य-विषयक समझ पर तब प्रश्नचिह्न लगाया था, जब वे अत्यन्त ख्याति-प्राप्त हो चुके थे। खत्री जी द्वारा किए गए खड़ी बोली हिन्दी के भाषिक विभाजन पर भी चर्चा की गई है। इसी खंड के दूसरे आलेख “दूसरी परम्परा के सर्जक” में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की उस आलोचना दृष्टि का विवेचन किया गया है, जो साहित्य को ऐतिहासिक-सांस्कृतिक और मानवीय मूल्यों से निःसृत करने का आग्रह रखती है। तीसरे और चौथे आलेख, “कहें रामविलास खरी-खरी” एवं “नामवर की कसौटी” में रामविलास शर्मा और नामवर सिंह के आलोचनात्मक विवेक का विश्लेषण किया गया है।

सातवाँ खंड है, “उड़ान की अकुलाहट”, जिसके केन्द्र में समकालीन स्त्री और दलित-विमर्श पर आधारित आलोचना है और इस खंड में आठ लेख हैं। पहले आलेख “मुक्ति आकांक्षा की रचनाकार” में महादेवी वर्मा द्वारा रचित गद्य एवं पद्य साहित्य के निरीक्षण के साथ ही सिमोन द बोउवार के साथ उनकी तुलनात्मक समीक्षा भी है। दूसरे आलेख “सौन्दर्य का मिथक-निर्माण” में पश्चिमी सौन्दर्य-बोध में आए परिवर्तन को भी विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है। साथ ही यह भी बताया गया है कि आज सौन्दर्य के मानदंड बाजार द्वारा तय किए जा रहे हैं। तीसरा आलेख “रह गई अधूरी पूजा जो साहित्य में” स्त्री-विमर्श को विभिन्न ऐतिहासिक एवं साहित्यिक परिप्रेक्ष्य के आलोक में जाँचने का प्रयास करता है।

आठवाँ खंड है, “भाषा बहता नीर”, जो कि भाषिक विमर्श पर केन्द्रित है तथा इसमें कुल छह लेख हैं। पहले आलेख “भाषा, साहित्य और शिक्षण” में एन.सी.ई. आर.टी. में शामिल रचनाकार तथा उनकी रचनाओं का विवेचन किया गया है। साथ ही, पाठ्य-पुस्तक के उद्देश्यों पर भी चर्चा की गई है। इसी खंड के छठे आलेख “आठवीं अनुसूची : भोजपुरी का हक” में वर्तमान युग में भोजपुरी की भाषिक स्थिति का विवेचन किया गया है।

नवाँ खंड, “सबद निरन्तर” इस पुस्तक का आखिरी खंड भी है, जिसमें कुल दस लेख हैं और कुछ टिप्पणियाँ भी शामिल हैं। इस खंड के पहले आलेख “बात-बात में बात” में डॉ. नामवर सिंह के साक्षात्कारों का संकलन है। दूसरे आलेख “अभिव्यक्ति की आजादी और प्रतिबन्ध” में उन पुस्तकों के माध्यम से, जिन पर प्रतिबन्ध लगे थे, अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर चर्चा की गई है। तीसरे आलेख “लेखक संगठनों का उत्तरदायित्व” में रचनाकारों के सामूहिक दायित्व के प्रश्न को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है। चौथे आलेख “नक्सलवाड़ी का दौर वाया फिलहाल” में “नक्सलवाड़ी के उदय के कारणों एवं आधुनिक युग में उसके प्रतिगामी परिणामों पर चर्चा की गई है। “लोक संस्कृति बरक्स लोकप्रिय संस्कृति” में भी संस्कृति के विभिन्न प्रतिरूपों पर विचार किया गया है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि अपने विषय-वैविध्य के कारण प्रस्तुत पुस्तक पठनीय बन गई है। आलोचक राजीव रंजन गिरि की आलोचना दृष्टि समग्रतावादी है और उन्होंने किसी भी प्रकार के अतिवादों से अपने आलोचनात्मक विवेक को बचाए रखा है। अतः आलोचना के क्षेत्र में प्रस्तुत पुस्तक एक मजबूत एवं महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

पुस्तक समीक्षा

‘मुझे कुछ कहना है’* : छत्तीसगढ़ की आत्मकथा

डॉ. मंजु शर्मा*

अंचल की माटी की सोंधी महक, सरल वनजीवन का फैलाव, अस्मिता की तलाश में बिखरा बाल-मन और भौतिक एवं आत्मिक अभावों के थपेड़ों को सहता जीवन। यह है लेखक के बहाने अंचल की औपन्यासिक आत्मकथा का पहला पायदान—‘मुझे कुछ कहना है’।

डॉ. राम निवास साहू की यह आत्मकथा मुझे कुछ कहना ही नहीं, बल्कि हमें कुछ या बहुत कुछ कहना है, का आभास कराती है। इसमें छत्तीसगढ़ का आँचल पसरा पड़ा है, जिसकी छाँव में वनवासी जीवन, विभिन्न प्रथाएँ-ग्रामीण जीवन-शैली तथा छत्तीसगढ़ी भाषा की आंचलिकता फलती-फूलती है। साथ ही, लेखक के बाल-मन की कसैली स्मृतियाँ हिलोरेँ लेती हैं, बाहर छलकने को आतुर हैं। इसी का प्रमाण है यह आत्मकथा। इसमें ग्राम्य जीवन एवं उसकी सांस्कृतिक विविधता, अन्धविश्वास, प्रथाएँ-कुप्रथाएँ, बोली, भाषा, पर्व-त्योहार का बखूबी चित्रण हुआ है। साथ ही, लोक सन्दर्भों से जुड़कर उत्सव-पर्व जीवन्त हो उठे हैं। मेले और मेलों में होने वाले खेल-तमाशों का वर्णन जीवन की सादगी को उत्साहित करने वाली स्मृतियों को ताजा करता है। लोकगीत ग्रामीण जीवन की मधुरिमा को बनाए रखता है, इससे सरसता बनी रहती है—“भोजली गंगा...। लहरे तुरंगा!!!/ धरती के तैं गंगा जमुना, आ हो! भोजली गंगा।”

चरवाहे की सूझ-बूझ ने गाँव को सूखे से बचाया। ‘जल संरक्षण’ की यह नीति आज जहाँ जल-संकट का भयावह रूप हमारे समक्ष है, वहाँ प्रेरणादायक है। “बरसाती

* समीक्षित कृति : “मुझे कुछ कहना है”, लेखक : डॉ. रामनिवास साहू, प्रकाशक : अनन्य प्रकाशन, ई 17, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032; प्रथम संस्करण : 2017, पृष्ठ : 192, मूल्य : 395/-रुपए

** अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, चिरेक इंटरनेशनल, कोंडापुर, हैदराबाद (तेलंगाना)

manju.samiksha@gmail.com

नाले को चरवाहे ने बाँधनुमा बड़ा तालाब बनवा दिया। कई दिनों तक बादल बरसते रहे और बँधवा तालाब लबालब भर गए।” (पृष्ठ सं. 24)

वनवासी समुदाय संघर्ष का दूसरा नाम है, जहाँ उजड़ना-बसना उसकी जिजीविषा को बताता है। ऐसे में भोले-भाले लोगों पर गौंटिया राज का आतंक बना रहता है—“गौंटिया, सेठ, नेता, दबंग गाँव की जनता को मूर्ख, अनपढ़, भीरू, चापलूस, नादान तथा पतित बनाना चाहते हैं न कि शिक्षित, समझदार तथा प्रगतिशील। उन्हें आँखें मूँदकर पड़ी रहने वाली जनता चाहिए, न कि आँखें खोलकर आगे बढ़ने वाली। लेखक ने बार-बार लक्षित किया है कि गाँव कभी विकसित न हों और शोषक शक्तियों का वर्चस्व बना रहे, इसी की निहित साजिश के तहत वहाँ बच्चों को पढ़ने से वंचित रखा जाता है, ताकि ग्रामीणों पर उनका दबदबा बना रहे। गाँव के बच्चों को दिशाहीन करने में गौंटिया लगे हुए हैं, क्योंकि अनपढ़, साधनहीन, असभ्य गाँवों से ही गौंटियाई चली थी, चली है और चलेगी।

स्त्री-शोषण का चाबुक भी यहाँ है, जिसकी कराह मन को बेचैन कर देती है “गौंटिया उस औरत के पास गया और एक झटके में उसकी साड़ी खींच ली। वह रोती-बिलखती भागी और पास के पनपिया तालाब में कूद पड़ी। गौंटिया परिवार के सभी लोग हँस रहे थे, उसकी दरिन्दगी पर खुशी व्यक्त कर रहे थे।” (पृ.सं. 62)। इस स्त्री-शोषण की जड़ें मजबूत होती हैं बाल-विवाह और अनमेल विवाह से। इसका भी चित्रण कई बार हुआ है। लड़कियों की शिक्षा पर पूर्ण पाबन्दी! इतना ही नहीं, उनका अपना कोई नाम नहीं। यहाँ स्त्रियों को उनके मायके के गाँव के नाम से ‘हिन’ प्रत्यय लगाकर पुकारना उनकी स्थिति को दोगुना दर्ज वाली साबित करता है।

छत्तीसगढ़ी अंचल को लेखक ने कसकर पकड़े रखा है, किन्तु माँ के आँचल का छूटना उसके बालमन को बार-बार कुरेदता है, टीस देता है। “माँ! कहाँ हस तैं? इहाँ न दूध मिलत है न दही। न भरपेट खाय ल मिलत। कहूँ न तेल लगाएँ न नहाएँ। न कहूँ प्यार करे, न बोले बतियाएँ। सबे जन फटकारत रहथें। तैं कहाँ हस ओ?” (पृ. सं. 155)। मातृहीन अबोध बालक की दुर्दशा, पीड़ा और करुणा का मार्मिक चित्रण हृदयस्पर्शी है।

यह 192 पृष्ठों में सिमटी रचना पाठक को गाँव के गली-गलियारों, खेत-खलिहानों, झाड़-झंखाड़ों, मेले-तमाशों के बीच ले जाती है, जहाँ उसे सुखद अनुभूति होती है। परिशिष्ट में दी गयी छत्तीसगढ़ी शब्दावली और व्याकरण की सहायता से पाठक वर्णित कथानक को सरलता से समझ लेता है। नैसर्गिक वातावरण की सहजता-सरलता के बरक्स परिवारों की टूटन में स्वार्थ और कुटिलता की भूमिका लेखक के मन में टीस पैदा करती है और पाठक भी उसकी चुभन को महसूस करता है। अन्ततः ग्रामांचल शिक्षा के सहारे विकास की ओर उन्मुख होता हुआ खुशियों की सौगात लाने वाली नई सुबह की आस जगाता है।

पाठकीय प्रतिक्रिया

डॉ. बी.बी. कुमार की सम्पादकीय मनीषा एवं वैचारिकी की गरिमा से समलंकृत ‘चिन्तन-सृजन’ त्रैमासिक पत्रिका समाजनीति, राजनीति एवं अर्थनीति की विवेचना करनेवाली, अपने आपमें अद्वितीय है। यह ‘कंच-कुच’ का वर्णन करनेवाली अलंकारवादी साहित्यिक पत्रिका से सर्वथा भिन्न तथा सार्वभौम चिन्तन की पत्रिका है। इसके पाठक सर्वसाधारण नहीं, अपितु असाधारण बौद्धिक प्रतिभा वाले ही हो पायेंगे। यह पत्रिका मेरी ज्ञानसीमा के ततोऽधिक विस्तार की निर्मिति करती है। इसमें प्रतिपादित विषय-वस्तु को हृदयंगम करने के लिए सातिशय सतर्कता और प्रकृष्ट मनोयोग अपेक्षित होता है। इसके लेखकों के ज्ञान की स्तरीयता तक पहुँचने के लिए पाठकों के ज्ञान की भी स्तरीयता आवश्यक है। नवलेखन की समस्त विशिष्टताओं से विमण्डित यह पत्रिका आधुनिक त्रैमासिकों में अपनी स्वतन्त्र पहचान रखती है।

यद्यपि यह पत्रिका स्वच्छ-निर्दोषमुद्रण के प्रति अधिक सावधानी बरतती है, तथापि यथा प्राप्त अप्रैल-जून, 2017 के अंक में अक्षरगत कई भ्रान्तियाँ रह गई हैं। उदाहरणार्थ, ‘साहित्यकार’ की जगह ‘साहित्यार’, ‘प्रमुख’ की अपेक्षा ‘प्रमुख’ आदि। ज्ञातव्य है, जिस शब्द में ‘कृत’, ‘करण’ या ‘भूत’ शब्द जुड़ते हैं, उसका पूर्व वर्ण ह्रस्व से दीर्घ हो जाता है, यह व्याकरण का नियम है। जैसे ‘दृष्टान्ती-कृत’ तो ठीक है, पर राजनीतिकरण ठीक नहीं, वस्तुतः ‘राजनीतीकरण’ होना चाहिए। इसी प्रकार ‘एकीभूत’, ‘जड़ीभूत’ आदि शब्द साधु होते हैं। इस अंक में वर्णगत सवलन रह गया है।

प्रो. उपाध्याय का आलेख-शीर्ष यदि ‘समकालीन जीवन की संघर्ष-यात्रा’ होता तो अधिक मौजू होता। इसी प्रकार, उसी आलेख में ‘बड़ी मछली का आहार होती है छोटी मछली’ प्रयोग अधिक व्याकरण संगत होता। (पृष्ठ 123)

इस प्रकार के कतिपय प्रायोगिक सललनों के बावजूद ‘चिन्तन-सृजन’ का यह अंक लेखनगत समृद्धि की दृष्टि से जितनी आशंसनीय है, उतनी ही प्रशंसनीय भी। इस सन्दर्भ में यह कहना या समझना उचित होगा।

धावतां सवलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः ।

हसन्ति दुर्जनास्तत्रोन्नोत्यन्ति तु सज्जनाः ।।

— साहित्यवाचस्पति डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव, प्रधानमंत्री: बिहार-हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, पटना, एम.ए. (प्राकृत-जैनशास्त्र, संस्कृत एवं हिन्दी), स्वर्णपदक-प्राप्त, पी.एच.डी. साहित्य-आयुर्वेद-पुराण-पालि-जैनदर्शनाचार्य, व्याकरणतीर्थ, साहित्यरत्न, साहित्यालंकार, पूर्व-व्याख्यता: प्राकृत, प्राकृत-शोध-संस्थान, वैशाली, पूर्व-उपनिदेशक (शोध) एवं सम्पादक: 'परिषद्-पत्रिका' बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना। पता: 'शुभैषणा', एमको फैक्टरी कैम्पस, श्रीनगर कॉलोनी, निकट संस्कार स्कूल, सन्दलपुर, पो. महेन्द्र, पटना-800006; मो.09334493466.

त्रैमासिक 'चिन्तन-सृजन' वर्ष-14 अंक-4 (अप्रैल-जून, 2017) कुछ विलम्ब से मिला। प्रायः ऐसा हो ही जाता है।

मैंने सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य से डॉ. ब्रज बिहारी कुमार का 'विमर्श का संकट', रमेशचन्द्र शाह का 'स्वातंत्र्योत्तर भारत की राजनीतिक संस्कृति', बनवारी का 'हमारी राजनीति की दिशा', शंकर शरण का 'सही राजनीति का मार्ग', उदयन वाजपेयी का 'भारत में संसदीय लोकतन्त्र की सीमाएँ', रामचन्द्र प्रधान का 'गाँधी का पुनरागमन एवं गाँधीवादी राजनीति का भविष्य', मनोज कुमार राय का 'आरक्षण का व्याकरण' पढ़ा। लगा कि हम अपने देश के प्रति उत्तरदायित्व निभाना जानते हैं।

- केशीकान्त शकुन, पी-6, पंजाबी विश्वविद्यालय परिसर, पटियाला-147002.

केन्द्रीय हिंदी संस्थान

मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार

संपर्क: हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा-282005, फोन: 0562-2530684,

वेबसाइट: www.indisansthan.org, www.khsindia.org

संक्षिप्त परिचय

केन्द्रीय हिंदी संस्थान, आगरा मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा 1961 ई. में स्थापित एक स्वायत्त शैक्षिक संस्था है। इसका संचालन स्वायत्त संगठन केन्द्रीय हिंदी शिक्षण मंडल द्वारा किया जाता है। संस्थान का मुख्यालय आगरा में स्थित है और इसके आठ क्षेत्रीय केंद्र : दिल्ली, हैदराबाद, गुवाहटी, शिलांग, मैसूर, दीमापुर, भुवनेश्वर तथा अहमदाबाद में हैं।

संस्था के प्रमुख उद्देश्य

■ भारतीय संविधान के अनुच्छेद 351 के अनुपालन में अखिल भारतीय भाषा के रूप में हिंदी का विकास और प्रसार की दृष्टि से उपयोगी शैक्षणिक पाठ्यक्रमों की प्रस्तुति एवं संचालन। ■ विभिन्न स्तरों पर गुणवत्तापूर्ण हिंदी शिक्षण का प्रसार, हिंदी शिक्षकों का प्रशिक्षण, हिंदी भाषा और साहित्य के उच्चतर अध्ययन का प्रबंधन, हिंदी के साथ विभिन्न भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक भाषा वैज्ञानिक अध्ययन को प्रोत्साहन और हिंदी भाषा एवं शिक्षण से जुड़े विविध अनुसंधान कार्यों का आयोजन। ■ अपने विभिन्न पाठ्यक्रमों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के लिए परीक्षा आयोजन तथा उपाधि वितरण। ■ संस्थान की प्रकृति एवं उद्देश्यों के अनुरूप उन अन्य संस्थानों के साथ जुड़ना या सदस्यता ग्रहण करना या सहयोग करना या सम्मिलित होना, जिनके उद्देश्य संस्थान के उद्देश्यों से मिलते-जुलते हो और इन समान उद्देश्यों वाले संस्थाओं को संबद्धता प्रदान करना। ■ समय-समय पर विषयानुसार अध्येतावृत्ति (फेलोशिप) छात्रवृत्ति और पुरस्कार, सम्मान पदक की स्थापना कर हिंदी से संबंधित कार्यों को प्रोत्साहन आदि।

संस्थान के कार्य

■ शिक्षणपरक कार्यक्रम: (i) विदेशी विद्यार्थियों के लिए हिंदी शिक्षण, (ii) हिंदीतराज्यों के विद्यार्थियों के लिए अध्यापक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम, (iii) नवीकरण एवं संबद्धतात्मक कार्यक्रम, (vi) दूरस्थ शिक्षण कार्यक्रम (स्ववित्तपोषित), (v) जनसंचार एवं पत्रकारिता, अनुवाद अध्ययन और अनुप्रयुक्त हिंदी भाषाविज्ञान के सांध्यकालीन पाठ्यक्रम (स्ववित्तपोषित)

■ अनुसंधानपरक कार्यक्रम: (i) हिंदी शिक्षण की अधुनातन प्रविधियों के विकास के लिए शोध, (ii) हिंदी भाषा और अन्य भारतीय भाषाओं का तुलनात्मक व्यतिरेती अध्ययन, (iii) हिंदी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में आधारभूत एवं अनुप्रयुक्त अनुसंधान,

(iv) हिंदी भाषा के आधुनिकीकरण और भाषा प्रौद्योगिकी के विकास के उद्देश्य से अनुसंधान, (v) हिंदी का समाज भाषा वैज्ञानिक सर्वेक्षण और अध्ययन, (vi) प्रयोजनमूलक हिंदी से संबंधित शोधकार्य। अनुसंधानपरक कार्यों के दौरा द्वितीय भाषा एवं विदशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण के लिए उपयोगी शिक्षण सामग्री का निर्माण।

■ शिक्षण सामग्री निर्माण और भाषा विकास: (i) हिंदीतर राज्यों और जनजाति क्षेत्र के विद्यालयों के लिए हिंदी शिक्षण सामग्री निर्माण, (ii) हिंदीतर राज्यों के लिए हिंदी का व्यतिरेकी व्याकरण एवं द्विभाषी अध्येता कोशों का निर्माण, (iii) विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण पाठ्यपुस्तकों का निर्माण, (iv) कंप्यूटर साधित हिंदी भाषा शिक्षण सामग्री का निर्माण, (v) दृश्य-रच्य माध्यमों से हिंदी शिक्षण संबंधी पाठ्यसामग्री का निर्माण, (iv) हिंदी तथा हिंदीतर भारतीय भाषाओं के द्विभाषी/त्रिभाषी शब्दकोशों का निर्माण।

संस्थान के प्रकाशन: हिंदी भाषा एवं साहित्य, भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, तुलनात्मक एवं व्यतिरेकी अध्ययन, भाषा एवं साहित्य शिक्षण, कोश विज्ञान आदि के संबद्ध विभिन्न विषयों पर उपयोगी पुस्तकों का प्रकाशन। अब तक 150 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। विभिन्न स्तरों एवं अनेक प्रयोजनों की पाठ्यपुस्तकों, सहायक सामग्री तथा अध्यापक निर्देशिकाओं का प्रकाशन। त्रैमासिक पत्रिका - 'गवेषणा', 'मीडिया' और 'समन्वय पूर्वोत्तर' का प्रकाशन।

पुस्तकालय: भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, भाषा शिक्षण और हिंदी साहित्य के विभिन्न विषयों की पुस्तकों के विशेषीकृत संग्रह की दृष्टि से हिंदी के सर्वश्रेष्ठ पुस्तकालयों में से एक। लगभग एक लाख पुस्तकें। लगभग 75 पत्र-पत्रिकाएँ (शोधपरक एवं अन्य)।

संस्थान से संबद्ध प्रशिक्षण महाविद्यालय: हिंदी शिक्षण-प्रशिक्षण के स्तर को समुन्नत करने तथा पाठ्यक्रम में एकरूपता लाने के उद्देश्य से उत्तर गुवाहाटी (असम), आइजोल (मिजोरम), मैसूर (कर्नाटक), दीमापुर (नागालैंड) के राजकीय हिंदी शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालयों को संस्थान से संबद्ध किया गया है।

योजनाएँ: ■ भारतीय सांस्कृतिक केंद्र, कोलंबो में सिंहली विद्यार्थियों के लिए केन्द्रीय हिंदी संस्थान के पाठ्यक्रम की 2007-08 से शुरुआत। ■ अफगानिस्तान के नानहर विश्वविद्यालय (जलालाबाद) में संस्थान द्वारा निर्मित बी.ए. का पाठ्यक्रम 2007-08 से प्रारंभ। ■ विश्व के कई अन्य देशों (चेक, स्लोवानिया, यू.एम.ए., यू.के, मॉरिशस, बेल्जियम, रूस आदि) के साथ शैक्षणिक सहयोग और हिंदी पाठ्यक्रम संचालन के संबंध जारी। ■ हिंदी के बहुआयामी संबर्धन के लिए हिंदी कॉर्पोरेशन परियोजना, हिंदी लोक शब्दकोश परियोजना, भाषा-साहित्य सीडी निर्माण परियोजना, पूर्वोत्तर लोक साहित्य परियोजना, लघु हिंदी विश्वकोश परियोजना पर कार्य।

- डॉ. कमल किशोर गोयनका
उपाध्यक्ष, केन्द्रीय हिंदी शिक्षण मंडल
ई-मेल: kkgoyanka@gmail.com

- प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय
निदेशक
ई-मेल: nkpandey65@gmail.com
directorofkhs@yahoo.co.in

सेवा में,

आस्था भारती
27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेन्ट,
मयूर विहार फेस-1 विस्तार,
दिल्ली-110 096.

महोदय,

मैं त्रैमासिक पत्रिका चिन्तन-सृजन का ग्राहक बनना चाहता हूँ। इस हेतु.....
.....रुपये चेक/बैंक ड्राफ्ट सलग्न है। यह शुल्क एक वर्ष/तीन वर्ष के लिए है
(√टिक करें)।

नाम :

पता (शहर, पिन कोड अवश्य लिखें) :

फोन न. :

ई-मेल :

भवदीय

(हस्ताक्षर)

नोट: 1. चेक/बैंक ड्राफ्ट "आस्था भारती" के नाम से होना चाहिए तथा नई दिल्ली/दिल्ली में देय होना चाहिए।

पत्रिका चेक के भुगतान के बाद साधारण डाक से भेजी जाएगी।

2. चिन्तन-सृजन की शुल्क निम्न है।

वार्षिक मूल्य:	एक प्रति का मूल्य
व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपए
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपए
तीन वर्ष:	
व्यक्तियों के लिए	180.00 रुपए
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	400.00 रुपए